पंचम अध्याय : स्त्री-कविता का भाषिक पक्ष

पंचम अध्याय : स्त्री-कविता का भाषिक पक्ष

i. स्त्री-कविता की भाषा :

स्त्री-कविता एवं स्त्री-लेखन का मौलिक अहिंसक औज़ार है स्त्री-भाषा। स्त्री-भाषा जो सारे सामाजिक-राजनैतिक-धार्मिक पदानुक्रम को समाप्त करती है। स्त्री-भाषा का संवादधर्मी, सहयोगधर्मी और रंगधर्मी स्वरूप स्त्री-लेखन को अधिक प्रभावी, प्रामाणिक और गतिशील बनाए रखता है। सृजन की अनुगूँज को समेटती यह स्त्रियों के मनोलोक को नयी भाषिक ऊर्जा से दीपित करती है। स्त्री-लेखन ने निःसंदेह एक भाषा, स्त्री-भाषा को जन्म दिया है। स्त्रियों द्वारा रचित साहित्य का भाषिक पक्ष अधिक लोकतांत्रिक और सामासिक है। स्त्री-भाषा की विशेषता है कि वह किसी जंजाल, नाटकीयता अथवा वक्रता या अलंकरण के भार से बोझिल नहीं है, सीधे-सीधे अपनी बात करती है नकार या स्वीकार में! 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोय'- एक के स्वीकार और सारी दुनिया के निषेध वाला भाव स्त्री-भाषा की पहचान है। अर्थात् स्त्री-लेखन हो या स्त्री-कविता, भाषा प्राण तत्व है। स्त्री-कवियों की काव्य-भाषा पर गौर करें तो पायेंगे कि वह कई पगडंडियों को बनाती हुई एक बड़े मार्ग का निर्माण करती है। स्त्री-भाषा उसी बड़े मार्ग का द्योतक है। आदिकालीन अवस्था से स्त्रियों की शक्तियों का अजस्त्र स्त्रोत उनकी भाषा ही रही है, भाषा जिसका आधार ही संवाद है। भाषा में भाषण और नीरसता पितृसत्ता की देन है। इस भाषणधर्मिता के बरअक्स स्त्री-भाषा, भाषा को उसके अधीनीकरण से मुक्त करने का प्रयाण भी है। पश्चिम में भी स्त्री लेखिकाओं, चिंतकों (लेवीस्त्रार्स, वर्जीनिया वुल्फ, फ्रेंच मनोवैज्ञानिक नैन्सी शोदोरोव आदि) ने स्त्री-लेखन में भाषा की विशिष्टता को रेखांकित किया है।

अनामिका अपने लेखों में बराबर स्त्री-भाषा के वैविध्य को दिखाती हैं, "एस.एम.एस. इंटरनेट, फेसबुक, ब्लॉग आदि की स्त्री भाषा पर गौर कीजिए - यह भाषा बदल रही है। रेडियो

म्याऊँ की भाषा पर गौर कीजिए - यह एक पुरमजाक भाषा है जो कि पदानुक्रम नहीं मानती, बार-बार स्मृतियों में लौटती है, पर केवल स्मृतियों की होकर रह नहीं जाती, परंपरा को वह मोबाईल की बैटरी समझती है - रीचार्ज हो जाने वाली शय! रोज उसे रीचार्ज होना है - आपस की, हँसमुख-सी गपशप में अनौपचारिक और सेमिऑटिक गंध से मताई स्त्री-भाषा है यह जिसकी आंतरिक लय में कोरा की लय शामिल है - स्तन पकड़ने-छुड़ाने की लय, बत्ती जलाने-बुझाने की लय, प्रसवकालीन क्रमण-संकुचन की आदिम लय भी! सेंसरशिप का हौवा यहाँ नहीं! अपने कुरूपतम रूप में भी यह उल्टी की बाल्टी या हाइड-पार्क की भूमिका निभा ही जाती है।"[1] भाषा में व्याप्त एकाधिकार, आदेशवृत्ति, भावहीनता एवं पदानुक्रमिकता आदि प्रवृत्तियों को स्त्री-भाषा प्रश्नकीलित करती है। वह इस भावहीन भाषा की परतों को भाषा के द्वारा और भाषा में डिकोड करती है। कवयित्री अनामिका का भाषा-संबंधी चिंतन स्त्री-भाषा को तार्किक ढंग से विश्लेषित करता है। यह भाषायी ताकत स्त्री को पीढ़ी-दर-पीढ़ी मिलती रही है। जीव-विज्ञानी शारीरिक-मानसिक संरचना आदि ने भी इस भाषिक विन्यास को समृद्ध किया है।

अनामिका की कविताएं भी उसी भाषा के पुरमजाक भाव को निबद्ध करती है। भाषा के जरिए ही भक्षक को रक्षक बना लेने का शील स्त्री-भाषा में सन्नद्ध है। लोकगीत, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, पुराकथाओं के रसों का समाहार स्त्री-भाषा को संजीवनी बूटी देता है। जातीय स्मृतियों की अपरूप कथाएँ, मिथक तथा इतिहास आदि सभी मिलकर स्त्री-भाषा व कविता को एक ऐसा प्लैटफॉर्म देते हैं जहाँ सबको समान अधिकार है, कोई पदानुक्रम नहीं। एक समदृष्टि का भाव जिसे वे अपने संघर्ष की लड़ाई में औज़ार की तरह इस्तेमाल कर सकती हैं। स्त्री-कविता का यह नवीन अस्त्र ही सामाजिक न्याय और वैश्विक पटल पर उनकी नयी पहचान को प्रतिष्ठित करेगा। अपनी परंपरा-संस्कृति के पुनर्पाठ की ताकत भी इसमें सन्निहित है। प्रत्येक मोर्चे पर यह एक 'ब्रह्मास्त्र' की भाँति स्त्रियों की ताकत बनेगी। अनामिका की 'पीछे चली आई स्मृति थेरी फिर बोली' और 'नसीहत' कविता में स्त्री-भाषा की उसी सरसता और अहिंसक संघर्ष की

गाथा वे इतिहास और वर्तमान दोनों ही घटनाक्रमों से लेती हैं : "मोर्चों पर औरों के यह भी युद्ध लड़ेगी- / लेकिन फँसेगा नहीं कीच में उसका पहिया! / नहीं फँसेगा / क्योंकि शापग्रस्त परशु और भाले से नहीं, / उस भाषा से लिया है इसने / अपना ब्रह्मास्त्र- / राजपाट फैला है जिसका / भयपुर से जयपुर के बीच की / हरी-भरी धरती पर!"[2] इस भाषा की ताकत इतनी है कि "शब्द-शब्द में गूँजती है वो अनहद-सी, / अवरुद्ध कंठ में उतरती है!"[3] अनामिका की अधिकांश कविताएं भाषा के इस अनहद नाद से संपृक्त है। भाषा की जिस गतिशीलता अथवा प्रवाह में वह कविताएं लिखती हैं, वह उन्हें शब्द और अर्थ की अलग ताकत देता है। स्त्री का आंतरिक मनोवैज्ञानिक आरोह-अवरोह उसमें शामिल होता है। दूसरे अर्थों में कहें तो वह भाषा के साथ होली खेलती है। सभी अलग-अलग रंगों की छवियाँ अपनी अनुभूतियों के साथ कविता में गूँथती चलती हैं। 'फिर बोली वह स्मृति थेरी', 'पीछे चली आई स्मृति थेरी फिर बोली', 'विस्तृणा थेरी अब बोल पड़ी मेरे ही भीतर से', 'दुख भी खुशी ही है', 'भंते', 'मातृभाषा', 'नसीहत', 'बंगाल का काला जादू', 'गावतकिए और मूसल' आदि कविताओं में 'भाषा' शब्द जिन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है उन अर्थों की अंर्तध्वनियाँ दूर तलक जाती है, स्त्री की आत्मिक तहों तक जिनके परिपाक रसों में 'मातृभाषा' का सृजन होता है। भाषा की यह रवानियत प्रत्येक स्त्री-कवि की अर्जित मौलिक संपत्ति है।

समकालीन स्त्री-कविता की परंपरा में अनामिका की काव्य-दृष्टि और काव्य-भाषा एक नयी जमीन तैयार करती है। हाल ही में (वर्ष 2021) उन्हें जिस कृति के लिए साहित्य अकादमी सम्मान से सम्मानित किया गया वह (टोकरी में दिगंत थेरी गाथा : 2014) अपनी भाषिक संरचना के लिए भी बेहद महत्त्वपूर्ण है। बौद्धकालीन थेरी गाथाओं के बहाने कवयित्री ने जिस इतिहास से संवाद स्थापित किया है, वह अद्वितीय है। थेरियाँ प्राचीन और आधुनिक युग की स्त्री-संवेदना का वह बिंदु हैं जहाँ आज भी स्त्रियाँ प्रताड़ित होती हैं। आधुनिक युग की थेरियों के सम्मुख बुद्ध नहीं हैं, वह प्रवचन और वह भाषा है जिसके जरिए वह अपने समय की सलवटों

को अपने अनुकूल बना सकती है। अनामिका की सधी हुई काव्या-भाषा पर युवा कवयित्री सुजाता लिखती हैं -"कविता के शिल्प को स्त्री-कविता का शिल्प बनाते हुए अनामिका ने अपनी कविता में लगातार न सिर्फ एक स्त्री-भाषा को गढ़ने की कोशिश की बल्कि भाषा के 'मुच्छड़पन' की नस-नस जानते हुए उसे खूब अलटा-पलटा, फेरा, घुमाया, उठक-बैठक कराई है और वह बुलवाने की कोशिश की है जी स्त्री कहना चाहती है। जैसे रोटी फिराई जाती है चिमटे से कि पक भी जाए बराबर लेकिन जल न जाए ऐसे कविता में अनामिका स्त्री की उस 'चुप्पी' को शब्द देती हैं जो पुरुष की भाषाई मुखरता में अक्सर भीतर घुट जाती है। अनामिका के यहाँ भाषा ही कविता है, वही लय है, वही शिल्प है, वही औज़ार है, वही पाठ है। भाषा के जरिए कवयित्री ने स्त्रीत्व को मुखर बनाया है।"[4] भाषा के जरिए स्त्रीत्व को मुखर बनाना, स्त्री-जीवन के अंधेरे और चुप्पी को शब्दबद्ध करना आदि स्त्री-भाषा द्वारा ही संभव है। अनामिका का शब्द चयन हो या वाक्य विन्यास अथवा कविताओं में मुहावरों, लोकोक्तियों आदि का प्रयोग, नवीन भाष्य लिए रहता है। 'जनमतुआ बच्चे की चानी', 'अहिवात', 'चपचप', 'चप्पू', 'उचकुन', 'कमरधानियाँ', 'तिरहुतिया दुलार', 'बालबुतरु', 'हुलुकबंदर' आदि शब्द चयन उस परिवेश से निःसृत है जहाँ लोकगीतों से किस्सों-कहानियों से पूरा संसार महमह रहता है। ग्रामीण जीवन की सुगंध इन शब्दों को नवीनता, उदारता और मौलिकता से भर देती है। कवयित्री आर्ष वाक्यों के गठन में भी निष्णात है- 'वृद्धाएं धरती का नमक हैं', 'हरियाली है एक पत्ती का खो जाना', 'हर भाषा है दर्द की भाषा', 'नए जमाने का घूँघट हँसी है शायद', 'क्या प्रेम में पड़ना खटाई में पड़ना है', 'निजता-निजेतर के घर आती-जाती है', 'चाहती हूँ मैं इस 'अ' से 'अभय' लिखना', 'एक शब्द भी पूरी दुनिया का नक्सा बदल सकता है', 'बाजार कलपतरू है कर सकता है कायाकल्प', 'मेरी यह निर्भीकता ही मेरी आबरू है' आदि आर्ष वाक्य उस अनुभव-संसार और जमीनी सच्चाई को सामने लाते हैं जिसे समझने और रूप देने में वर्षों लग जाते हैं। कविताओं में प्रयुक्त इन शब्दों, आर्ष वाक्यों की अहमियत सब्जी में नमक की भाँति है। स्त्री-भाषा व लोक

स्मृतियों के अनुभवों से प्रसूत इन वाक्यों में जीवन का सार तो है ही, उसके प्रति आसक्ति का भाव भी है। भाषा की जादूगरी इसी में है कि वह हृदय में उतरकर उसमें उद्वेलन पैदा करे और व्यक्ति को परिवर्तन व परिशोधन के पथ पर अग्रसर करे। भाषा को औरत का हथियार मानने वाली कवयित्री औरत की दुनिया में भाषा के जरिए ही बदलाव की उम्मीद रखती है।

स्त्री-कविता, स्त्री-भाषा के जरिए निरंतर अपने दायरे को, अपने अनुभवों को एक लय देती चलती है। उनके निजी जीवन के संदर्भ, शब्द, मुहावरें, फब्तियाँ आदि निजेतर भाव से अभिव्यक्त होते हैं। कविता को भी वह एक नयी भाषिकी में देखना चाहती है, वही पुरमजाक भाव से लबरेज जिसकी बात अनामिका करती हैं। कविता और कवि दोनों इस व्यूह रचना के साक्षी होते हैं। कभी वे प्रवाह में कविता के साथ चलती है तो कभी कविता, कवि के साथ-साथ उसकी दुनिया को सूक्ष्मता से देखती है। अपने आत्म-अनात्म को, सभी भावों को, पूरी प्रामाणिकता से कह देने का अभिधेय ही स्त्री-भाषा को मौलिक बनाता है। सूसन गूबर ने 'सेक्सुअल को टेक्सुअल' (sexual is textual) इसी अर्थ में कहा है कि स्त्री अपनी अलग भाषा के, भावभिव्यक्ति के जरिए ही अपनी अस्मिता की तलाश करती है। कविता उसकी सहयात्री की तरह इस प्रक्रिया में उसके साथ बनी रहती है। कविता में भाषा की अल्हड़ता को गगन गिल अपनी तरह से व्यक्त करती हैं - "क्या कविता एक मकड़ी है - कभी लय का कभी शब्द का तार पिरोती? कभी अर्थ का झूला झूलती और कभी अपने ही अर्थ से दूर, आगे निकल जाना चाहती? या कि कविता एक सीपी है भाषा के सागर में डूबती-उतरती, जिसे ऊपर आने की चाह है।"[5]

कविता की भाषा और अवयव संयोजन में गगन गिल अति सचेत हैं। शब्दों की कम खर्ची और भाषा को अधिक प्रांजल, प्रभावी और हृदयग्राही बनाने का काम वे अपनी कविता में भी करती हैं। भाषा में तरह-तरह के प्रयोग करना और उसे अपनी सघन संवेदन के अनुकूल बनाना गगन अच्छी तरह जानती हैं। छोटे-छोटे वाक्य, पद और शब्द आदि उनकी भाषा संबंधी

कलाकारी को दिखाते हैं। शब्दों के बीच के खालीपन को भरना, भाषा में निहित अनुगूँजों को पकड़ना, शब्द-रूपों से अंत:संवाद करना तथा कविता के भावों को आत्मीयता से जोड़ना आदि उनकी कविता की शिल्पगत विशेषताएँ हैं। स्त्री-भाषा की लय को वह उसी खुशमिजाजी से पकड़े रहती हैं जैसे कविता में सब सच लिखने की आतुरता उनमें बनी रहती है : "लिखियो जी सब सच लिखियों जी/ दिल में कलम डुबो के सब सच लिखियो जी।"[6] कविता में सब सच लिख डालने की आकुलता उन्हें हिंदी के प्रगतिशील कवियों की परंपरा से जोड़ती है। भाषा यहाँ अपनी बाहें फैलाती है। 'दिल में कलम डुबों' कर लिखना उस आत्मिक भाव को लिखना है जिससे मानव मात्र पीड़ित है और वह अपनी व्यथा-कथा सबको कह देना चाहता हो। स्त्री-भाषा का यह गुण ही कविता को सच्चाई के पक्ष में खड़ा करती है। गगन गिल का भाषा-चिंतन एक अनोखे रूप की ओर इंगित करता है। अपने लेख 'स्त्रीत्व को भाषा में पढ़ते हुए' में वह भाषा के कई सूक्ष्म और स्थूल परतों की शिनाख्त करती है। स्त्री-भाषा की रवानियत और फिरकापरस्ती को वे भी स्वीकारती है "... स्त्री धीरे-धीरे एक निजी भाषा गढ़ने लगी।... उसकी कहानियों और गीतों में एक प्रति-संसार रचा जाने लगा। इस प्रतिसंसार में उसे हर तरह का अवकाश था जो अन्यत्र दुर्लभ था।"[7] स्त्री की यह निजी भाषा ही स्त्री-भाषा की आधार भूमि को सिरजती है और उसका अनुभव उसे ऊर्वर बनाए रखता है। कविता में चित्रित उनका प्रति-संसार भी कल्पनालोक नहीं है, अपितु वह पितृसत्तात्मक संसार का प्रतिपक्ष है। भाषिक-विन्यास की विलक्षणता गगन गिल के संग्रह 'थपक-थपक दिल थपक-थपक'(2003) में देखा जा सकता है। भाषा और शब्दार्थों के परे भाषा की स्वच्छंदता, स्वर, लय, गूँज, अनुगूँज, आवृत्ति, विवृत्ति, आरोह-अवरोह, गीत-प्रगीत, यतिभंग-स्वरभंग आदि सभी काव्य गुणों से प्रयुक्त संसार को कवयित्री ने जैसे रबर की तरह खींचा है और बाँधा है। इस संग्रह की सभी कविताओं पर पंजाबी भाषा का जो चटक रंग है वह उसे और भी संश्लेषित बनाता है। स्त्रीत्व की

आत्माभिव्यक्ति की यह एक अलग लय है जो निजी होते हुए भी सार्वजनिक भावों-उद्गारों को प्रकट करती है :

"न मैं हँसी, न मैं रोयी
बीच चौराहे जा खड़ी होई
न मैं रूठी न मैं मानी
अपनी चुप से बाँधी फाँसी"[8]

"जाऊँ हूँ जी जाऊँ हूँ
रस्ते अकेले पे
लौटे बिना ही कहीं
दूर चली जाऊँ हूँ"[9]
"थपक थपक दिल थपक थपक
बात भुलाई दिल थपक थपक
हाथ भी खाली मुट्ठी भी खाली
बात बतायी उसने अटक अटक
एक ही चमड़ी एक ही धरती
उतरा खुरंड वही रगड़-रगड़"[10]

स्त्री भाषा का यह मनोछंद हिंदी कविता में एक नवीन प्रयोग है। कवयित्री मानवीय पीड़ा की दुरूहता और दुर्बोधता को शोकगीतों के रूपक में संजोती है। भाषा की यह मनोस्थिति, मनुष्य की ही मनःस्थिति का रूपांतरण है। काव्य-भाषा के इस छंद-स्वछंद में स्वयं से हास-परिहास, करुणा का विलाप, प्रेम की आकांक्षा और अस्तित्व का बोध बराबर बना रहता है। इस करुणा, प्रेम और अस्तित्वबोध का सामाजिक संदर्भ भी है। कवयित्री इन्हीं शाश्वत मूल्यों

के सहारे मनुष्य के विश्वायन स्वरूप को समझना और समझाना चाहती है। खाली हाथ और खाली मुट्ठी निःस्वार्थ भाव से मानवीय जीवन दर्शन को पाने की चाह है। गगन गिल के अन्य संग्रहों में भी इस करुणा का प्रसार है। 'थपक-थपक दिल थपक-थपक' संग्रह की कविता और भाषा से कवयित्री के संवाद की कविताएं हैं। भाषा की दृष्टि से इन कविताओं में एक नया तेवर, एक नयी लय है जो छंदमुक्त है, स्थूल होते हुए भी सूक्ष्म और संश्लिष्ट है। इन कविताओं के संदर्भ में कवयित्री का कथन भी इसी बात की पुष्टि करता है - "जैसा कि जाहिर है, ये शब्दों से अधिक अनुगूँजों से बुनी हैं। इन्हें लिखते समय मैंने हेक और हूक, दोनों को अनुभव किया है। हेक-जो बाहर रेगिस्तान में पुकारती है, और हूक - जो भीतर बियाबाँ को चीरती हुई ऊपर आती है।"[11] हेक और हूक की भाषिक जुगलबंदी कवयित्री को एक निजी भाषा के संधान में प्रवृत्त करती है। गगन गिल की कविता में व्याप्त सन्नाटा, शोक और एकांत भाव स्त्री के अंतर्मन की अवस्थिति है। स्त्री-देह की गुत्थियों, जिज्ञासाओं के बहाने वह मानवीय चिंता के वृहत्तर स्वरूपों को अलग-अलग भावों में अभिव्यक्त करती है। स्त्रीत्व और कवयित्री की स्व-चेतना बराबर उसे आत्म-अनात्म की डोर पर ले आती है तभी वह एकांत की भाषा को स्वर देती है।

स्त्री-कविता का भाषिक विन्यास जितना आधुनिक भाव-बोध लिए हुए है, उतना ही वह अपनी परंपरा से जुड़ा भी है। लोकगीतों की कविता में आवाजाही इस बात का प्रमाण है कि वह परंपरा प्रसूत लोकगीतों, लोकभाषा, लोरियों व लोक मुहावरों के दाय को मुक्तकंठ भाव से स्वीकार करती है। भाषा को पूर्णतः लचीला बनाकर उसे नए-नए रूप देना स्त्री-कवियों की काव्य-भाषा को और भी धारदार और संप्रेषणीय बनाता है। कवयित्री अनामिका 'बीसवीं सदी का हिंदी महिला लेखन' पुस्तक की भूमिका में स्त्री-कविता की भाषा पर विस्तार से चर्चा करती हैं। वे बताती हैं कि कैसे स्त्री-कवियों ने नयी पदानुक्रममुक्त स्त्री-भाषा का निर्माण अपनी परंपरा के संचित ज्ञान और आत्मन्वेषण द्वारा किया है और श्रेष्ठ स्त्री रचनाकार भाषा के साथ होली खेलती नजर आती है : "आत्मान्वेषण का हर्ष कुछ इतना घना है कि भाषा से होली खेलती

दीखती है श्रेष्ठ स्त्री रचनाकार। लोकगीतों की-सी परिहास वृत्ति, यह महीन-सा ह्यूमर भी इधर स्त्री-कविता की एक बड़ी उपलब्धि है।"[12] भाषा के साथ होली खेलने का आशय है उसे अपने अनुरूप बनाना और दूसरे को बिना चोट पहुँचाए अपने भावार्थों को प्रेषित करना। भाषा संबंधी अनामिका का यह कथन राजनीतिक चेतना से सम्पन्न सचेत कवयित्री कात्यायनी की काव्य-यात्रा पर भी लागू होता है।

कात्यायनी ने कविता के फॉर्म को सबसे अधिक तोड़ा-मरोड़ा है। उनके सभी काव्य संग्रह शिल्प के स्तर पर प्रयोगधर्मी रहे हैं। कविता की बनी-बनायी परिपाटी, आदर्शों, सिद्धांतों को ताक पर रखकर वह काव्य-भाषा और शिल्प का नियोजन करती हैं। उनकी अधिकांश कविताओं के शीर्षक एक वाक्य की भाँति है तो कहीं वे एक अंतराल में दर्जनों शीर्षकविहीन कविताएं लिखती हैं और कभी वह कविता को पूर्णतः गद्यात्मक शैली में घोषणा-पत्र की भाँति रूप देती हैं। इन प्रयोगधर्मी कविताओं की पृष्ठभूमि कवयित्री का सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक तथा पारिवारिक चिंतन है जो उन्हें देहरी से विश्व भर की घटनाओं की तारतम्यता को कविता के रूपक में बदलने को मजबूर करता है। आज कविता को भी बाजार में उत्पाद बनते देख कात्यायनी सिहर उठती हैं। वह उस भाषा का प्रतिकार करती हैं जो पूँजीवादी सत्ता-व्यवस्था की भाषा बोलती है। कवयित्री को प्रतिरोधात्मक क्षमता पर अगाध विश्वास है इसलिए वे कविता की ताकत को सत्ता की नृशंसता से बड़ा मानती है। भाषा के मनमाने अर्थ गढ़ने वालों को कात्यायनी दो टूक सुनाती हैं और कविता की सार्वभौमिकता को स्थापित करती हैं : "वे जो भाषा को बदलकर, शब्दों को मनमाने अर्थ देकर हमसे चीजों की पहचान छीनने की कोशिश कर रहे हैं, इतिहास उन्हें भीषण शाप देगा। लोक-स्मृतियाँ तो फिर भी रहेंगी। कविता तो फिर भी रहेगी और वे शापित लोग जब कभी सपनों की घाटी में जाना चाहेंगे, सरहदों पर उन्हें रोक दिया जाएगा। उनके पास पार पत्र नहीं होंगे। तब वे कविता की जरूरत महसूस करेंगे, पर अवश होंगे। वे भटकते रहेंगे और विस्मृति में, पागलपन में, कहीं भी उन्हें शरण नहीं मिलेगी।"[13] कविता

और भाषा के संबंध में कात्यायनी की टिप्पणी कविता की सामाजिक भूमिका की ओर संकेत करती है। डायरी के पन्नों में दर्ज़ कात्यायनी के कविता संबंधी विचार साहित्य को बाजारू बनाने वाली विचारधारा को चेतावनी देते हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था जब पूँजी केन्द्रित व्यवस्था में तब्दील होने लगे तो कविता अपनी प्रखर भाषायी ताकत से उसका प्रतिरोध करती है ; कात्यायनी की कविता उसी प्रतिरोध की आवाज है। अपनी आमफ़हम भाषा द्वारा कविता को आम आदमी की जरूरतों के समकक्ष लाना और कविता को आम आदमी की मामूली जरूरत कहना कात्यायनी की अलग काव्य-दृष्टि का द्योतक है। स्त्री का औज़ार भाषा ही रही है। वह भाषा की स्वच्छंदता को अपने आत्मतत्व से जोड़ती है : चाहे वह पतित पुरुष पति हो या क्रूर तानाशाह हो सत्ता या धर्मोन्मुखी संहिताएँ, सभी का प्रतिकार वह भाषा की तरलता से ही करती है : "न जाने क्या सुझा / एक दिन / भाषा में समा गयी। / उस दिन तानाशाओं को / नींद नहीं आई रात भर। / उस दिन खेल न सके कविगण / अग्निपिण्ड के मानिंद तपते शब्दों से। / भाषा चुप रही सारी रात। / रुद्रवीणा पर कोई प्रचण्ड राग बजता रहा।"[14] कभी-कभी चुप्पी अथवा मौन भाषा से अधिक मुखर और वाचाल होता है। उस मौन का राग वर्चस्ववादी ताकतों के लिए रूद्र रूप की तरह होता है। स्त्री का भाषा में छिपना पितृसत्ताकीलित बन्दिशों की जड़ों को उखाड़ फेंकना है। पितृसत्तात्मक भाषा में तानाशाहों ने जिस मोह से स्त्री को बांधा था, कविगण जिन्हें शब्दों के मोहजाल में मृगनैनी, गजगामिनी, कामिनी आदि रूप दिए, शब्दों-भावों की उलटबांसियों से स्त्री को देह में कैद किया था, उन सभी कूटनीतियों को स्त्री-भाषा समझ चुकी है। अतः उन सब कूपमंडूकताओं के खिलाफ स्त्री-भाषा का प्रचण्ड राग में बजना स्वाभाविक है। कवयित्री तानाशाहों, कविगण और भाषा की राजनीति को समझते हुए उसे उसी भाषा में जवाब देती है। वह उस भाषा पर बार-बार प्रहार करती है जो पुरुष अपने संरक्षण में बोलता है, स्त्री को उसकी अस्मिता से विरत करता है, उसके आत्मसम्मान को चूर-चूर करता है। इसलिए वे भाषा को, कला को माँजने की, तराशने की बात कहती है ताकि उसकी अपनी चमक भाषा

में आ सके। भाषा के ऊपर चढ़ाई गयी पुरुषवाद की परतों को, जिसने भाषा और संरचना को बोझिल और उबाऊ कर दिया ; उसके द्विपक्षीय वार्ता के स्वभाव से एकपक्षीय भाषणधर्मिता में बदल दिया। 'कला और सच' को सामने लाने के लिए भाषा का निखरना आवश्यक है : "कला को / माँजा और निखारा जाए / इस हद तक कि / सच के बारे में / लिखी जा सके / एक सीधी-सादी छोटी-सी / कविता!"[15] सच के बारे में लिखने के लिए कला को निखारना या तराशना कला को और कविता को सच के पक्ष में खड़ा करना है। कला की बारीकियों को कात्यायनी ने हर तरफ से देखा-समझा है। उनकी छोटी, मझोले आकार की तथा लंबी कविताओं का वितान उसी सच का बयान है जिसे कहने की हिम्मत केवल साहित्य में होती है। उनके सॉनेट, शीर्षकविहीन कविताएं, कवि-कर्म, बाजार और कला की काला बाजारी पर केन्द्रित कविताओं की भाषा जितनी व्यंग्यपूर्ण, नुकीली है उतनी ही सच के करीब भी। देश, काल और मनुष्य के जीवन की विडंबनाएं इन कविताओं में झाँकती हैं और अपने ही समाज, साहित्य, दर्शन, शास्त्र, चिंतन आदि की जड़ता को आईना दिखाती हैं। विषय-वस्तु, शिल्प और सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक व पारिवारिक विडंबनाओं के साथ साहित्य जगत में चल रही नकली नक्काशी को, उनके द्वारा निर्मित कथित मर्यादा को कवयित्री ने कविता के मार्फत इतना भुनाया है कि भाषा उनके यहाँ दौड़ती-भागती है। कात्यायनी हर वर्ग, हर व्यक्ति, हर व्यवसायी, हर स्त्री, हर पुरुष और हर तरह के मानवीय अंतर्द्वंद्वों को कविता में लिखती हैं। परहेज, उपदेश, प्रार्थना, चेतावनी, हंसी-ठिठोली, प्रेम-नफरत, भद्र-अभद्र, वरिष्ठ-गरिष्ठ, ईश्वर-याचक, जीवन-मरण, अतीत-वर्तमान-भविष्य, आरंभ-अंत, शब्द-अर्थ, पक्ष-प्रतिपक्ष-निष्पक्ष, इतिहास-वर्तमान, स्त्री-पुरुष, सजीव-निर्जीव, सम्मान-अपमान, कवि-कविता, कल्पना-यथार्थ आदि सभी युग्मों की खबर कविता के जरिए लेती हैं। कवयित्री भाषा की उस तह तक पहुँचती है जहाँ से पूरी दुनिया की क्रियाएं मनुष्यता के विपक्ष में खड़ी दिखती हैं। इसलिए वे जन-सरोकार को, स्त्री की अवस्थिति को प्राथमिकता देते हुए कविता में उन सभी घटनाओं-परिघटनाओं को उतार लेना

चाहती है ताकि इतिहास की उल्टी गंगा को आमजन अपनी खुली आँखों से देख सकें और व्यवस्था के निर्माताओं के खूनी चेहरों को पहचान सकें। कविता को एकछत्र साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ औज़ार की तरह इस्तेमाल करने वाली कवयित्री कविता के भविष्य को इसी रूप में देखती है। वह जानती है कि "... जो रहस्य हम कविगण जानते हैं और कविता की तहों में छुपाकर रखते हैं और ब्रेस्ट की तरह मुल्क-दर-मुल्क भटकते रहते हैं और लोरका की तरह मौत के सुपुर्द कर दिए जाते हैं, वह फिर भी हमारा अपना नहीं है। वह एक अमानत है। सच्ची कविता निजी स्वामित्व के खिलाफ है और सच्चा कवि भी। इसलिए कवि को कभी-कभी लड़ना भी होता है, बंदूक भी उठानी पड़ती हैं। ऐसे दौर आते रहते हैं और आगे भी आएंगे।"[16]

कविता और कवि के प्रति यह गहरी प्रतिबद्धता कवयित्री के आजाद खयाल और इंकिलाबी तेवर को दर्शाती है। स्वामित्व, राजसत्ता और तानाशाही को कविता भलीभाँति समझती है। कात्यायनी कविता की प्रतिबद्ध आवाज़ बनकर ही इन मानव विरोधी संघातों के खिलाफ लोहा लेती हैं। उनके यहाँ शब्द, अर्थ और कविता की सौदेबाजी या कलाकारी नहीं होती है बल्कि वह जनता की आमफ़हम भाषा के साथ आती है। शब्दों के जरिए कलाबाजी दिखाने वाले कवि कात्यायनी की कविता में सम्मान के पात्र नहीं हैं। शब्द अर्थ की सार्थक ध्वनि ही भाषा और कविता के साथ मनुष्य को दिए जायेंगे – "अन्त हो जाएगा / मनुष्य / और उसके / समस्त कृतित्व का, / शब्दों को छोड़कर। / शब्द मंडराएँगे / पूरी पृथ्वी पर / ढूंढते हुए मनुष्य का / शिकार करने के लिए।"[17] जन-भाषा और भाव के प्रति कवयित्री की चिंता दूरगामी है। वह अपने कवि-कर्म में शब्द और अर्थ के अंतर्संबंध को स्थापित करते हुए अपनी वैचारिक पक्षधरता का परिचय देती है। कवयित्री जानती है शब्द कालजीवी है, उसकी अर्थ-ध्वनियां अनंत काल तक ब्रह्मांड में गूँजती और मनुष्य को दिशा देती रहेंगी।

स्त्री काव्य-परंपरा में शब्द-अर्थ व भाषा के प्रति यह आस्था भाव उनके अवचेतन से जुड़ा है। सदियों से उनके अवचेतन में मनुष्य विरोधी तत्वों, विचारों को गूँथा गया है। आज स्त्री-कविता की भाषा उन गुत्थियों को ऐसे सुलझा रही है जैसे एक स्त्री दूसरी स्त्री के केशों की गांठें खोलती है या सुलझाती है। काव्य-भाषा के बदलते तेवर एकसाथ कई शैलियों का निर्माण करते हैं। कहीं वह सीधा-सपाट होकर भी हृदय को भेदता है तो कहीं विभिन्न प्रतीकों-बिंबों के सहारे स्त्री-जीवन के गूढ़ार्थों का संकेत करता है। जन-भाषा व लोक-संस्कार स्त्री-काव्यभाषा की निधि हैं। अपने जन सरोकारों और स्त्री-शोषण के खिलाफ अपनी आवाज को मुखर करती शुभा की कविताएं यौन-शोषण, बलात्कार, हत्या और पितृसत्ता की घिनौनी रीति-नीति को अभिव्यक्त करती हैं। तथाकथित सफेदपोश सामाजिक सहृदय आदमी की क्रूरता और सत्ता की हैवानियत शुभा की दृष्टि से ओझल नहीं होती है। वह ऐसे हत्यारे की पहचान शीघ्र ही कर लेती हैं। इसलिए उन्हें अति भद्रजनित भाषा या व्यवहार कोरा पौरुषिक विलाप लगता है। अतः कवयित्री की 'इच्छा' अव्यवहारिक के पक्ष में जाती है : "मैं चाहती हूँ कुछ अव्यावहारिक लोग / एक गोष्ठी करें / समस्याओं को कैसे बचाया जाय / उन्हें जन्म लेने दिया जाय / वे अपना पूरा कद पाये / वे खड़ी हों / और दिखाई दें / उनकी एक भाषा हो / और कोई उन्हें सुने / पक्ष और विपक्ष / दोनों एक साथ।"[18] कवयित्री की ये व्यंग्यपरक पंक्तियाँ उस कोरा विलाप करने वाली सत्ता-व्यवस्था पर है जो हर चीज़ अथवा समस्या को पक्ष-विपक्ष में बांटने को अभ्यस्त हो चुकी है। प्रायः समस्याओं पर बहस करते-करते समस्याएँ धरी रही जाती हैं और बहस दूसरी दिशा ले लेता है। पक्ष-विपक्ष का वितंडा खोखला साबित होता है। कवयित्री शुभा ऐसी भाषा और शब्द-योजना पर भरोसा करती हैं जो हमारे विश्वास को बनाए रखें : "हम उन शब्दों में / एक दूसरे को तसल्ली दे सकते हैं / जिन शब्दों को / हमारा यकीन छोड़ गया है।"[19] अर्थात भाषा ही वह माध्यम है जो हमारे अंतर्मन और बहिर्मन के धागों को संवेदन के तंतुओं से जोड़ती है। कविता

उसका जरिया होती है। वह अपने यकीन को शब्दों के सहारे छोड़ती है ताकि व्यक्ति एक-दूसरे की असहायता को महसूस कर सके।

शुभा की रचना-प्रक्रिया को भाषा की इसी सादगी से जाना जा सकता है। जेंडर संबंधी सवालों को भी उन्होंने इसी फ्रेम से देखा है और अपने समाज के नग्न यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। राजनीतिक चेतना और इतिहास बोध से लैस कवयित्री पितृसत्तात्मक संरचना से उपजे शक्तिपुंज को धिक्कारती है। पौरुषपूर्ण समय में स्त्री-हिंसा को जायज ठहराने वाली राजनीतिक कुत्सित मानसिकता पर प्रहार करती हैं : "बथुए से रोटी खाकर / उस स्त्री ने लिखी ऐसी कविता / जिसे समझना नहीं अपनाना मुश्किल है / समझ तो लेते हैं उसे फिर भी / चतुर और भले लोग / उसमें एक कड़वापन है जैसे नीम में होता है / वह दिखाती है आम सहमति की / एक कुत्सित जगह / मामूली समझौतों में छिपी जघन्यताएं / शराफत और सफलता में छिपी / एक बदबू / जो मुर्दों के सड़ने से आती है।"[20] औरतों की आज़ादी या स्वाधीनता को समझना सभी चाहते हैं पर अपनाना कोई नहीं चाहता। कवयित्री जनतंत्र की इस कुरूपता को स्वीकार नहीं कर पाती है। पुरुष वर्चस्व और हिंसा की निरंतरता स्त्री के खिलाफ निरंतर एक हिंसक भाषा को तैयार कर रही होती है। मीडिया, टेलीविज़न, फिल्म जगत आदि स्त्री के प्रति भाषिक यौन-हिंसा को और भी प्रश्रय देते हैं। कवयित्री की चिंता मनुष्य की उस 'आदमखोर' रवैये पर है जो धीर-धीरे स्त्रियों को भी ग्रसने लगा है। स्त्री-कविता की परंपरा में शुभा की कविता भाषा के स्तर पर अलग राह पर दिखती है। उनका शब्द चयन भले ही तथाकथित सभ्य समाज और साहित्य को असंसदीय लगे लेकिन उनमें निहित आक्रोश और जघन्यता उसी सभ्य समाज की देन है। उनकी 'इच्छा', 'एक और मुश्किल', 'एक पत्ता', 'पेड़ों की उदासी', 'मुस्टंडा और बच्चा', 'हमारे समय में' आदि कविताओं की अंतर्वस्तु और भाषा शिल्प के स्तर पर सपाट होते हुए भी हृदयविदारक है।

स्त्री-कविता में आमफ़हम भाषा व जनभाषा की बात हो तो निश्चित रूप से नीलेश रघुवंशी का काव्य-संसार जीवंत हो उठता है। कविता में आमफ़हम जनभाषा का वह जैसे प्रयोग करती हैं, उसका प्रभाव अत्यंत व्यापक और दूरदर्शी है। कविता व दुनिया को देखने की सूक्ष्म दृष्टि ही कवयित्री की निजी संवेदना को भी सार्वजनीन बनाती है। उनकी कोशिश भी कविता में यही रहती है कि व्यक्ति या मनुष्य की निजी कोशिश सामूहिक कोशिश में बदल जाए। नीलेश अपने समय की कविता को ट्रेन में 'तीसरे दरजे की यात्रा करती' हुई पाती हैं। भारतीय आम जनमानस की नब्ज और जज़्ब को कवयित्री जानती है क्योंकि वह स्वयं उसका हिस्सा है। इसलिए उसमें एक प्रगाढ़ वर्ग चेतना दिखती है। स्त्री-कवियों में नीलेश ऐसी कवयित्री हैं जिनमें परिवारबोध के दर्शन होते हैं। पारिवारिक सदस्यों पर लिखी गयी कविता की भाषा भी संवादात्मक शैली में है। इसके साथ ही कवयित्री भारतीय आम जनता और युवाओं की समस्याएं-बेरोजगारी, महंगाई, भ्रष्टाचार, खेती-किसानी, राष्ट्रवाद, आतंकवाद, तानाशाही आदि विद्रूपताओं के बीच साधारण होते हुए भी असाधारण दिखता है। भय और आत्मविश्वास के द्वंद्व के बीच आत्मविश्वास की जीत ही नीलेश की कविता और काव्य-भाषा का सार है। अपने अहंवादी समय में आत्मालोचन और आत्मसंघर्ष पर बल देने वाली कवयित्री, इन्हीं दोनों पदबंधों से अपने समय को समझना चाहती है। वह मानती हैं कि आज के कवि को आत्मालोचन और आत्मसंघर्ष से गुजरना अनिवार्य है क्योंकि यह समय और कविता दोनों की मांग है : "आज के समय में कविता कवि से आत्मलोचन की मांग कर रही है। घनीभूत पीड़ा के संग वो कवि से कह रही है – आत्मलोचन, आत्मलोचन, आत्मलोचन। आत्मसंघर्ष, आत्मसंघर्ष, आत्मसंघर्ष। एक याचक की तरह कह रही कविता – महोदय, जरा ठहरिए? खुद से भी सवाल करिए? अपने भीतर भी झाँकिए।"[21] कवयित्री द्वारा शब्दों की आवृत्ति पर ज़ोर देना, यह दर्शाता है कि वह कविता के लिए आत्मालोचन की प्रक्रिया को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानती है। आत्मलोचन और आत्मसंघर्ष द्वारा ही कवि, कविता के मर्म को ही नहीं बल्कि अपने समाज

और आम जनता के मर्मस्थल को भी समझ सकता है। उनकी कविताओं में ऐसे ही कवियों की आवाजाही निरंतर बनी रहती है जिन्होंने अपने समय की मांग के अनुरूप ही कविता को गढ़ा है। मरीना त्स्वेतायेवा, पाब्लो नेरुदा आदि कवि उनके काव्य-सर्जना के सहयात्री हैं। नीलेश की कविताएं अपने समय का दर्पण हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में निजता को सुरक्षित रखते हुए भी पीड़ा, दुख या अवसाद का विलाप नहीं किया है बल्कि वह आत्मसंघर्ष के जरिए उससे पार जाना चाहती हैं। संघर्ष की आस में ही कवयित्री वसंत का उदास गीत लिखती है जिसकी प्रेरणा भी उन्हें कवि-परंपरा से मिली है : "हे महाकवि हे औघड़ कवि हे सौंदर्य के संघर्ष प्रेमी कवि / जब भी तोड़ती हूँ खुद को / दिखते हो तुम सुनी राह में बाँहें फैलाए / अंधेरे में राह न दिखाओ पितातुल्य महाकवि / लिखने दो मुझे उदास गीत वसंत का / खोजने दो मुझे अपना खुद का वसंत!"[22]

कवयित्री की आत्मलोचन और आत्मसंघर्ष की परिणति स्वयं को पाने में है। 'खोजने दो मुझे अपना खुद का वसंत' पंक्ति ही 'भाषिक संरचना में अस्मिता की तलाश' को परितृप्त करती है। कवयित्री की चिंतन प्रणाली इतनी क्रिस्टल है कि वह सब कुछ शब्दों-अर्थों एवं भावों के जरिए खोलकर सामने रख देती है। एक नवीन पथ का सृजन कवयित्री की आकांक्षा है। वसंत का उदास गीत लिखना नए वसंत की खोज में निकलना है। स्त्री-कविता का यह स्थापत्य केवल नीलेश के यहाँ ही दिखता है जिसमें कवि-कविता और पाठक तीनों ही संवाद के स्थल पर एक होकर अपने समय की पहचान करते हैं। नीलेश की काव्यभाषा की पड़ताल और पहचान सिर्फ एक वाक्य को पढ़कर हो सकता है जहाँ वे लिखती हैं : "मैं इस दुनिया को / चिड़िया की आँख से देखना चाहती हूँ।"[23] भाषा की यह सादगी ही नीलेश की कविता की पहचान है। अपने ग्रामीण स्वभाव और वातावरण को कविता में पूरी विश्वसनीयता से रखना, उनसे निरंतर संवाद करना और भाषायी तेवर को सरल, सहज और सौम्य बनाते हुए स्त्री विमर्श या सभ्यता विमर्श की सैद्धांतिकी को सहजता से समझना नीलेश की कविता को विलक्षण बनाता है। नए युग की

यह कवयित्री नयी स्त्री से बहुत सारी उम्मीदों को पूरा करते देखती है और समाज के उज्ज्वल भविष्य की कामना करती है। कविता को नए मुहावरे, नए बिम्ब और नए रूपक देना भी नीलेश की काव्यभाषा की विशिष्टता है।

स्त्री-कविता में अलग-अलग भाषिक विन्यास और स्थापत्य, कविता के विन्यास को जहाँ एक ओर नयी दिशाओं की तरफ मोड़ता है वही दूसरी ओर कविता में लोकतांत्रिक मूल्यों को स्थापित भी करता है। यह लोकतांत्रिक मूल्य ही स्त्री-कविता में निरंतर नवीन शब्द-संपदा से हिंदी कविता को समृद्ध कर रहा है। कविता में स्त्री-भाषा की निर्मिति ही उस भाषिक स्वच्छंदता को सेलिब्रेट करती है जिनमें स्त्री-समाज अपना काम करते हुए भी गा-बतिया लेता है। स्त्री के प्रामाणिक अनुभव के इस महाख्यान में स्त्री-कवियों ने एक प्रति-संसार की रचना की है जिसमें कविता उनकी हमनवा बनकर रहती है। नून, तेल, लकड़ी आदि का अनुभव हो या अत्याधुनिक कंपनी में बैठी ऑफिस के फाइलों को डील करने का अनुभव आदि सभी से निस्तार पाने के लिए स्त्रियाँ उस कविता रूपी प्रति-संसार में सुकून की सांसें लेने बैठ जाती हैं। वहाँ भाषा भी आदेशमूलक, भाषणधर्मिता अथवा लोगोसेंट्रिक नहीं होती हैं, अपितु वह हृदय और मन की, आत्मिक लय की भाषा होती है जो हृदय को और उसकी उड़ान को पंख देता है। हृदय, मन और आत्मा की इस स्वच्छंद धारा में वह सब कुछ ढूँढ लेती है जिसकी प्रत्याशा में वह वर्षों से जी रही थी। इस हृदय की भाषा में हिंसा या प्रतिशोध के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है। 'हृदय' की भाषा का एक नमूना द्रष्टव्य है- "इसकी भाषा सपनों की है/ चला जाता है दूर/ दूसरे हृदयों की खोज में/ अदृश्य खिड़कियाँ खोलता हुआ/ दुख की छाया में बैठकर सुस्ताना हवा में पिरोता रोशनी के फूल/ अभी यह मेरे भीतर था/ ब्रह्मांड से एकाकार बजता हुआ/ टिक-टिक टक-टक मेरा समय।"[24] अनीता वर्मा की इन पंक्तियों में कोरी कल्पना नहीं है वह अति वाचाल समय के बरअक्स हृदय की भाषा की खोज करती है जिससे सुनना और समझना व्यक्तित्व को स्थायित्व प्रदान करता है। अनीता वर्मा की काव्य-भाषा में ऐसे अनेक चित्र, बिंब,

रूपक और प्रतीक हैं जो स्त्री के अंतर्मन के गह्वरों को भाषा की सादगी से उद्बुद्ध करते हैं। यह भाषा निजी से सार्वजनिक की यात्रा करती है और अपने समय को स्त्री के समय को एक नयी उष्मा से भर देती है। कवयित्री की भाषा में वीरानी का भाव है वह इसलिए भी आया है कि वह स्त्री-जीवन के अंधेरे को स्पर्श कर सके। ऐसे दुर्लभ संवेगों की अभिव्यक्ति आत्मपरक होते हुए भी अनात्म तक जाती है। वह दूसरे हृदयों की तलाश भी करती है और अदृश्य खिड़कियाँ भी खोलती है। अर्थात् अपने मूल स्वरूप में वह सर्वसमावेशी की भावना से संचालित है। मानवीय सहानुभूति का यह नया पाठ है जो मानवीय गुणों को संवर्धित करता है।

कवयित्री के प्रथम संग्रह 'एक जन्म में सब' की अधिकांश कविताओं की भाषा एक अलग स्पंदन लिए हुए थी। शब्द और अर्थ को सार्थक ढंग से कह पाने की सृजनात्मक पहल। उनकी काव्यभाषा पर कवि-आलोचक विष्णु खरे की टिप्पणी उल्लेखनीय है : "ज़मीन सार्वजनीन हो या निजी, विषय समसामयिक हों या देश-कालातीत, अनीता वर्मा ने एक ऐसी भाषा और शैली अर्जित की है, पूरी मानवीय सहानुभूति देने और अंतर्तम बात को कह पाने का ऐसा तरीका, कि वे पिछले दो दशकों में उभरी हिंदी युवा कवियों की बड़ी पीढ़ी में भी अगली पंक्तियों में अपनी विशिष्ट पहचान और स्थायी जगह बना चुकी हैं।"[25] उपरोक्त कथन अनीता वर्मा की काव्यभाषा और शैली की नवोन्मेषी वृत्ति को सिद्ध करता है। भाषा और शब्द कवयित्री के लिए अनुसंधानपरक हैं ; मानवीय सहानुभूति, उनके अंतर्तम मनोगत भावों, अंतर्संघर्षों की यात्रा को समझने और उसे शब्दों में पिरोने के लिए यह अनुसंधानवृत्ति ही कवयित्री को 'रोशनी के रास्ते पर' ले जाती है। 'अपने घर', 'सभागार में', 'नदी', 'ऋतुएँ', 'मजदूर चिड़िया', 'हवा और पत्तियाँ', 'उदासी', 'एक दरिया रात का', 'सितार', 'दृश्य' आदि कविताओं का विन्यास भाषा की गरिमा और गहरी निराशा-विकलता के बीच उम्मीद की कविताएं हैं। मनुष्य और प्रकृति की गंध भी ताजगी से लबरेज है। स्त्री की काया का दृश्य बिम्ब, उसके आंतरिक संसार की हलचलें-अकुलाहटें आदि सभी का वर्णन कवयित्री ने निष्कलुष भाव से किया है। प्रकृति

का सानिद्ध्य उसे और भी गहरी संवेदना को स्पर्श करने, गहरे सागर में गोता लगाकर मोती निकालने की अविरल क्षमता देती है। हृदय, मस्तिष्क और आत्म की गुत्थियाँ भी अनीता के काव्यभाषा संसार को अलग-अलग रूपकों, कई बार साबुत मानवीय रूपकों में बदलते रहता है : "अच्छा हुआ कि हृदय बच गया / और शब्दों को चलने के लिए पैर मिल गये।"[26] हृदय का बचना और शब्दों को चलने के लिए पैर मिल जाना कल्पना और यथार्थ का संयोजन है। इस संयोजन बिन्दु पर कविता स्त्री की स्त्रीमयता को पूर्णतः आत्मसात कर लेती है। स्त्री-कविता का यह भाषा-बोध ही उनके काव्य-संसार और अनुभव जगत को जीवंत बनाता है।

समकालीन हिंदी की स्त्री-कविता की भाषिक संरचना की यह तशरीह उनकी स्वाधीन चेतना और निस्सीम आजाद सर्वग्राही विचारों का भी द्योतक है। इतिहास और परंपरा की गलतबयानी और पितृसत्ता के धुर्खेल को स्त्री-लेखन भाषा के जरिए ही डिकोड कर रहा है। स्त्री-भाषा की लय और संयोजन भाषा के सेमियोटिक अर्थ को प्रेषित करती हुई वह कविता के शास्त्रीय ढांचे को भी चुनौती देती है। संस्कृतनिष्ठ खड़ीबोली हिंदी हो या उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी जुबान या आज की जनता के बीच की बोलचाल की भाषा आदि सभी का मिलाजुला कॉकटेल रूप स्त्री-भाषा को एक आधार प्रदान करता है। परिवार, रिश्ते-नाते, समाज-राष्ट्र आदि दुनिया में स्वयं के स्वतंत्र अस्तित्व को न पाने की पीड़ा ही उन्हें भाषा की अलग राह खोजने को प्रेरित करती है। कविताओं में अपने स्वतंत्र अस्तित्व को पाना, उन्हें स्थापित करना और शेष दुनिया से अन्याय-असमानता के खिलाफ अहिंसक जिरह करना आदि स्त्री-कविता और काव्यभाषा का मोटो है। समकालीन स्त्री-कवियों में रंजना जायसवाल की कविताएं उन कविताओं की राह पर खड़ी नज़र आती हैं जो आज भी कविता के मार्फत क्रान्ति की उम्मीद करती हैं। उनकी कविता स्त्री की गूढ़ अर्थ-छवियों-पुरुषवादी मान्यताओं, थोथी नैतिकता और मठाधीशी पर करारा व्यंग्य करती है। वह सवाल पूछती है और पुरुषवाद-नस्लवाद तथा भेदभाव की खोखली अहमन्यताएं चूर-चूर हो जाती हैं। रंजना की कविताओं में विचार, रणनीति आदि की

सपाटबयानी भी उसकी प्रामाणिकता के कारण ठोस जान पड़ती है। उनकी भाषा सीधी भाषा है जिसमें आँखों में आँखें डालकर बातें होती हैं और उसका क्रूर चेहरा दिखता है। कवयित्री जहाँ प्रेम की भाषा का अनुसरण करती है वहाँ प्रेम भी क्रांति और परिवर्तन की आस जगाता है और प्रेम से बड़ी क्रांति और क्या हो सकती है, वहाँ पुरुषवाद भी अपनी धूर्तता खो बैठता है और सच्ची मनुष्यता निखर आती है : "सच कहूँ तो पूरी स्त्री होता है / प्रेम करता पुरुष।"[27] कवयित्री की यह आस ही पूँजीवादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था और ब्राह्मणवादी आचारों से लड़ने में मदद करती है।

रंजना जायसवाल अपने लगभग आठों संग्रह ('मछलियाँ देखती हैं सपने', 'दुख पतंग', 'ज़िंदगी के कागज़ पर', 'माया नहीं मनुष्य', 'जब मैं स्त्री हूँ', 'सिर्फ कागज़ पर नहीं', 'क्रांति है प्रेम', 'स्त्री है प्रकृति' आदि) में भाषा को टकसाली नहीं बनने देती हैं। उनका अद्यतन संग्रह 'खंड-खंड स्त्री' वर्ष 2021 में आया है। अपने प्रथम संग्रह से लेकर अब तक के संग्रह (खण्ड-खण्ड स्त्री) में भाषा की वाचालता और मौन प्रवृत्ति का कवयित्री ने सफल प्रयोग किया है। 'स्त्री है प्रकृति' की भाषा विरल इस अर्थ में है कि वहाँ कविता कल्पना के बोझ तले दबती नहीं है बल्कि स्त्री के प्रकृतिकरण में मानवीकरण का आभास दिलाती है। पेड़-पौधे, फल-फूल, सब्जियाँ, ऋतुएं आदि पारिवारिक संबंधों के वाहक बनते हैं। 'भाई कटहल', 'दूल्हा बसंत', 'प्रकृति स्त्री है', 'आलूवाद', 'पेड़ बनकर', 'बेटी घास', 'सुहागन सरसों', 'लीची का दुख', 'फल राज', 'पत्तों का दुख', बाँदीपुर के जंगल' आदि दर्जनों ऐसे शीर्षक हैं, कविताएं हैं जो मनुष्य और प्रकृति, प्रकृति और स्त्री के अंतर्संबंधों को नया भाष्य देती है : "जानती हूँ तुम स्त्री हो / इसलिए ऐसी हो / और इसलिए तुम्हें नष्ट करने की / की जा रही हैं कोशिशें / भुलाकर इस बात को / कि वे भस्मासुर तुम्हारी ही कल्पना हैं / तुमसे ही उनका अस्तित्व।"[28] कवयित्री के इस स्त्री चिंतन में पर्यावरण चिंतन निबद्ध है। रंजना जायसवाल की विचार प्रधान कविताओं में स्त्री-जीवन के अर्थ छिपे हैं, और छिपी हैं पितृसत्ता से शोषित-प्रताड़ित आम स्त्री ; जिसकी

आवाज हर बार दबा दी जाती है फिर भी वह अपने परिजन के लिए मर मिटती है। यह त्याग ही उनकी जंजीरें हैं जिन्हें उतार फेंकने की कवायद रंजना की कविताएं करती हैं। छोटी-छोटी कविताओं में स्त्री-जीवन के रूपक को संजोना कवयित्री की काव्यगत विशेषता है : "स्त्री / निचोड़ देती है / बूंद-बूंद रक्त / फिर भी / हरे नहीं होते / उसके सपने।"[29] "स्त्री के / दुख की जड़ें / धँसी होती हैं / इतने गहरे / कि छिपाये रख सकती है / सबसे / उम्र-भर...."[30] "स्त्री / जीना चाहती है / इसलिए / बार-बार / मरना पड़ता है / उसे ....।"[31] "स्त्री / मरुस्थल में / फूल खिलाने की / कोशिश में / बन जाती है / मुट्ठी-भर रेत....।"[32] "स्त्री / महलों से निकलती है / बरसों बाद / खण्डहर होकर।"[33] "स्त्री की / दुनिया में / सब कुछ है / घर-परिवार / नाते-रिश्ते / समाज-संसार / बस नहीं है / वह खुद ....।"[34] इन पंक्तियों में स्त्री-जीवन के सार और सारांश दोनों के चित्र भरे पड़े हैं। भाषा की तल्खी भी उतनी ही प्रदीप्त है जितना कि उनके शोषण का इतिहास। स्त्री का यह इक़बालिया बयान पितृसत्ता के ढाँचे की बर्बरता की रंध्रों को खोलता है। कविता और समाज से अंतःसंवाद करते हुए कवयित्री स्त्री की दुनिया को विमर्श के केंद्र में लाना चाहती है। इन छोटे काव्य-रूपकों में उनकी दृष्टि आत्म-बलिदान देने वाली हर उस औरत की कहानी कहती है जो आजीवन मूक रहकर पितृसत्ता की जड़ों को मजबूत करती रही है, कभी अपने लिए मुट्ठी-भर रेत भी नहीं माँगती।

स्त्री-कविता और स्त्री विमर्श की सैद्धांतिकी ऐसे ही असमानता, शोषण और अमानवीयता पर चोट करती है, उनसे बदलाव की आकांक्षा रखती है। यह तभी संभव है जब स्त्री को मानवीय संवेदना के धरातल पर समझा जाए न कि उसे देवी या प्रतिमा या श्रद्धा बनाकर आदर्शों के बोझ तले दबा दिए जाए। इन आदर्शों, पुरुषवादी मर्यादा अथवा बौद्धिकता के खिलाफ रंजना अपनी बालसुलभ भाषा के साथ सामना करती हैं। कवयित्री का यह साहसिक कदम ही कविता को उत्तरजीवी और भविषयोन्मुखी बनाता है। इनकी कविताओं में विन्यस्त

आवेग, भावाकुलता, व्याकुलता, बालसुलभता और प्रश्नाकुलता आदि 'भाषा से अलग' एक भाषा का निर्माण करती है।

स्त्री-कविता, भाषा के मार्फत कविता को खोलती है। परिवार-समाज और साहित्य आदि सभी संस्थाएँ जिन भाषिक ग्रंथियों द्वारा स्वयं को अभिव्यक्त करती हैं, संचालित करती हैं, उसमें निहित पेंच या जलेबीपन को स्त्री-कवियों ने सामाजिक-मनोवैज्ञानिक आदि सभी स्तरों पर अभिव्यक्त किया है। जेंडर के बदलते ही भाषा भी अपना रुख कैसे बदल लेती है, यह एक स्त्री का आत्मजगत अच्छी तरह जानता है। कविता और भाषा की कुछ इन्हीं मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों की पड़ताल सविता सिंह की कविताएं करती हैं। सविता सिंह स्त्रीवादी कविता की प्रमुख हस्ताक्षर हैं। इनकी कविताओं की शैली तर्क की शैली है जो कविता में स्वत:स्फूर्त आती है। समकालीन हिंदी कविता में यथार्थ, मिथक और बौद्धिकता आदि को स्त्री के संदर्भ में पुनर्भाषित किया गया है। तर्कशीलता, बौद्धिकता और प्रभुतावादी सत्ता आदि को कवयित्री कविता में ही चुनौती देती है। उनकी अधिकांश कविताएं स्त्री और प्रकृति पर ही हैं। स्त्री और प्रकृति के आभ्यंतर स्वरूप को कवयित्री ने विभिन्न रूपों में चित्रित किया है। परंपरा, संस्कृति, धर्म आदि को मानवीय मूल्य के नवीन मानकों के सहारे कवयित्री उसका पुनर्संस्कार करती है। जीर्ण-शीर्ण रूढ़-परंपरा में उनके लिए उल्लास नहीं - 'दूर तक सदियों से चली आ रही परंपरा में उल्लास नहीं मेरे लिए'। कवयित्री का उल्लास जीवन के मूल संदेश को समझने और जीने में है। कविता की दुनिया कवयित्री के लिए सुकून की दुनिया है इसलिए वे कविता के प्रवाह में बहती है: "लिखती हूँ जब रात पर कविताएं/ कर रही होती हूँ अपना ही अनुवाद/ हवा तितली नदी पर लिख रही होती हूँ जब/ कर रही होती हूँ तैयार अपनी ही प्रतिलिपियाँ/ फैली रहती हूँ इस तरह अपने इस संसार में दिन रात/ मूल में नहीं समझे जाने का दंश मगर/ भाषा झेलती है/ पीठ की तरह दुखती है जो अक्सर रात गए।"[35] भाषा की इस पीड़ा का बोध और मूल में न समझे जाने का दंश मानवीय मूल्य-चेतना का संकट है। स्त्री-कविता पदबंध हो या स्त्री की दुनिया में व्यवहृत

होने वाले शब्द भंडार, आज एक माकूल दृष्टि से देखा गया या उसे द्वितीयक अथवा निरर्थक परजीवी माना गया कभी उसे एक-दूसरे के पूरक का दर्जा प्राप्त नहीं हुआ। सविता सिंह कविता और अपनी भाषा के द्वारा स्त्री की भीतरी दुनिया की जो तस्वीर दिखाती हैं, उसमें भाषा कुंठित जान पड़ती है।

कवयित्री भाषा को उस कुंठा से और उसकी परतंत्रता से मुक्त कराना चाहती है - "आखिरकार अपनी भाषा में हूँ सुकून से / मुझे खोजने आ सकते हैं मेरे प्रेमी / मैं मिलूँगी अब शायद उन्हें सजी-धजी / उनका स्वागत करती / अब मुझमें कोई संशय नहीं / न भीरुता पहले वाली / जरा भी रहस्यमय नहीं रहूँगी अब मैं / जैसे मैं थी जब नहीं समझती थी भाषा के तिलिस्म को / उसके विस्तार को।"[36] पितृसत्ताकीलित भाषा ने स्त्री को जिस संशय, भीरुता और रहस्य के जंजाल में फंसाए रखा था, भाषा के उस तिलिस्म को अब कवयित्री तोड़ती है और अपना दर्पण आप बनाती है जिसमें वो सहज-साधारण तथा आनंदित लगती है। स्त्री का अपनी भाषा में रहना सबके साथ रहना है। छल, छद्म, प्रवंचना आदि से मुक्त नितांत अपनी दुनिया - कविता की दुनिया! लगभग सभी कवयित्रियों की तरह सविता सिंह को कविता पर अथाह विश्वास है। कविता की सहृदयता, खुलापन और सर्वसमावेशी भाव उन्हें मानवीय संबंधों की गझिनता को समझने की एक दृष्टि प्रदान करती है। इसी प्रसंग में सविता सिंह की कविताएं 'मुक्ति की रणनीति' के रूप में व्यक्त होती हैं। रात, नींद, सपने, स्वप्न, यथार्थ, एकांत, अंधेरा, प्रेम, मुक्ति, कविता, स्त्री, भाषा, चुप्पी/खामोशी आदि सविता सिंह की कविताओं के बीजशब्द हैं जिसके मायने स्त्री जीवन में समय के विभिन्न पड़ावों के साथ बदलते रहते हैं। इन्हीं बीज शब्दों के द्वारा वह नयी सौंदर्य-दृष्टि को प्रसारित करना चाहती है। अनकहे, अधखुले भेदों को, सच के पीछे के सच को तथा लक्षित के भीतर अलक्षित को अर्जित कर कविता में लाना ही सविता सिंह की कविताओं को सहज बनाता है। फिर भी कुछ छूट जाए तो पाठक अपनी प्रज्ञा से उन्हें समझेंगे, उसका अनुगमन करेंगे। कविता इसी रूप में सामूहिक भावना को जगाती है। सामूहिक भावना एवं

सामाजिक संरचना में व्याप्त असमानताएँ, भिन्नताएँ आदि के संघर्ष को जायज ठहराते हुए कवयित्री स्त्री-कविता को विराट लक्ष्य से जोड़ती है। वैश्विक नागरिकता बनाने में, समाज को जेंडर न्यूट्रल करने में स्त्री-कविता की मुख्य भूमिका होगी, ऐसी आशा कवयित्री की कविता के प्रति निर्द्वंद्व भाव को दर्शाती है। कविता के प्रति यह राग सामाजिक चेतना को भी उद्दीप्त करें तो असमानताओं की लकीरों को मिटाया जा सकता है। स्वप्न से यथार्थ में मूर्तन कविता की सबसे बड़ी चुनौती है। सविता इस बात को अच्छी तरह जानती हैं, फिर भी उनकी उम्मीदें शब्दों से बनी हुई हैं क्योंकि एक शब्द भी पूरी दुनिया की भावधारा को मोड़ने की ताकत रखता है। सविता सिंह की कविताओं में कवयित्री का स्त्री-मन शब्दों की फिजूलख़र्ची या अतिश्योक्ति नहीं होने देता है। आलोचक रेखा सेठी ने इसी बात को लक्ष्य करते हुए लिखा है : "सविता सिंह की कविताओं में शब्दों का अपव्यय नहीं होता। यहाँ कहने की आतुरता से भरा उच्छवास नहीं है बल्कि शब्द-शब्द को तराशता संयत आवेग है जो कविता को गति देता है। किसी भी कवि की सबसे बड़ी चुनौती सही शब्दों के चुनाव की है। ... ... शब्दों और रंगों की व्यवस्था में सविता ने एक नया संसार रचा है जिसमें बहुत से बिम्ब हैं, आवेग भरी उद्द्यामता और यातना भरी करुणा के, स्त्री के प्यास और हवाओं के संगीत के, फूलों-तितलियों से छलके रंगों के, नीले विस्तार और नींद के सपनों के। कविता अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर विस्तृत लैंडस्केप रचने लगती है। नींद, रात और सपने इस लैंडस्केप का अभिन्न अंग है।"[37] संयत आवेग और सार्थक शब्दों का चुनाव कवयित्री को अपनी भाषा की उष्मा से ही मिलता है। जीवन और प्रकृति के विभिन्न रंगों को नयी रोशनी में देखना कवयित्री के नए संसार का या यूं कहें कि प्रतिसंसार का द्योतक है। अपने स्वप्न और यथार्थ के अंतर्संबंधों को पाटता उनकी काव्य-भाषा नयी उजास, नयी मानव-सभ्यता का प्रतीक है। स्त्री-जीवन के गहरे विषाद को मानव-मात्र की पीड़ा के साथ देखना तथा सुंदर की तलाश करना उनकी स्त्रीवादी पोजीशन को विस्तृत रूप देता है। समाज और राष्ट्र के संकटों की उग्र भाषा के समक्ष कोमलता का आग्रह सविता सिंह की

कविताओं को जेंडर विमर्श के सवालों से तो जोड़ता ही है, सभ्यता विमर्श को भी स्पर्श करता है। उनकी कविताओं में विश्व भर की कवयित्रियों का स्मरण और मानव-सभ्यता की तफ़्तिश करने वाले स्त्री-लेखन या विमर्श को नए सिरे से और नयी दृष्टि से देखने की आवश्यकता है।

आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित, पददलित स्त्री स्वर की भाषा स्त्री-कविता की एक अलग इंदराजी को पेश करती है। दलित और आदिवासी स्त्री-कवियों की काव्य-भाषा अधिक आमफ़हम और चलताऊ या बातचीत की भाषा है। किसी भी तरह की कल्पना, बिम्ब, मिथक या व्यंजकता वहाँ न के बराबर है। क्रूर यथार्थ, हिंसा, अपमान, असुरक्षा का भाव इतना गंभीर है कि स्त्री-कवियों की अभिव्यक्ति में काल्पनिक मधुरता आ भी नहीं पाती। अनुभूतित यथार्थ को एक झटके में कह देने की आतुरता उन्हें भाषा की सपाटता की ओर उन्मुख करती है। दलित समाज आज भी जिस जातीय उत्पीड़न को झेलता है, उससे निपटने के लिए भाषा में वक्रोक्ति लाना उस समाज के साथ अन्याय करना होगा। ये कविताएं जिस समाज विशेष के लिए लिखी जा रही हैं, वह जितनी उनकी भाषा की लय में हो वह उतना ही प्रभावी होगीं। रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, रजत रानी 'मीनू' आदि की कविताओं की शैली सामान्य बातचीत की शैली है। कला मर्मज्ञ शायद उन्हें काव्यभाषा का स्तरीय दर्जा न भी दें लेकिन उनकी व्याकुल संवेदना को नकारना मुश्किल होगा। दोहरे-तिहरे अभिशापों-क्रूरताओं को झेलती ये कवयित्रियाँ निजी दुख ही नहीं, पूरे समाज की यातना को सामने रखती हैं। अपनी अस्मिता के प्रति सचेत दलित-आदिवासी स्त्री-कवियों ने सामाजिक न्याय हेतु क्रांति का आह्वान किया है। भाषा की सीधी-सपाट शैली में अपनी बात कहती हुई वे जातीय हिंसा, सामाजिक पदानुक्रम और सवर्णवादी मानसिकता को कविता के जरिए बदल डालना चाहती हैं। अपने समाज के प्रति कविता की यह प्रतिबद्धता दलित और आदिवासी समुदाय को जागरण के पथ पर अग्रसर करती है।

पितृसत्ता के हिंसात्मक तरीकों ने स्त्रियों को इस कदर गुलाम बनाया है कि वे स्वयं भी प्रताड़ित होकर अपने से तथाकथित नीची जाति की स्त्रियों के साथ वही बर्ताव करने लगती हैं जिसकी वे शिकार होती रहती हैं। भाषा के द्वारा भाषा से प्रतिरोध का संघर्ष ही मुख्यधारा और हाशियाकृत समाज का संघर्ष है। प्रायः जिस भाषा से सभ्य समाज दूरी बनाए रखना चाहता है या उससे बचना चाहता है ; उसी भाषा का प्रयोग कविता में स्त्री-कवियों ने किया है। वह उनकी अपनी भाषा है। वही भाषा जिसके जरिए तथाकथित सभ्य समाज उन्हें असभ्य, अपढ़ या नीच मानता है। स्त्री यौन हिंसा के चित्रों में भी उसी भाषा का प्रयोग समाज के एक विशेष वर्ग की कुत्सित मानसिकता को दर्शाता है। अपनी अस्मिता, अस्तित्व और हिस्सेदारी की यह काव्यात्मक पहल स्त्री-कविता की परिपूर्णता को सामाजिकता में बदलने का उपक्रम है। इसलिए कवयित्री सभ्य समाज और सवर्णवादी व्यवस्था से प्रश्न करती है : "हम पूछते हैं तुमसे / स्वावलंबी बन / कब लड़ोगे हमारे लिए?"[38] नस्लगत, रंगगत, जातिसूचक गालियां और उत्पीड़न आदि मुद्दों पर सुंदरता, कुरूपता आदि पर तंज़ कवयित्री की मानवी-दृष्टि का परिचायक है : "तुम्हारी दृष्टि ही तय करती है / सुंदरता 'योग्यता' में है / या उसके वर्ण में?"[39] इन प्रश्नों को कविता में उठाना, अपनी बात को सीधे-सीधे कहना दलित स्त्री-कविता को सामाजिकता से जोड़ती है।

कविता को कल्पना, प्रवंचना, प्रदर्शन और झूठे ज्ञान की तहख़ानों से निकाल कर श्रम और पसीने, कुदाल-हथियार-ललकार-फटकार तथा न्याय की पुकार बनाने वाली सुशीला टाकभौरे की कविताएं विशुद्ध रूप से दलित समाज के उत्थान के लिए प्रतिबद्ध है। आरंभ से अंत तक उनकी कविताएं अपने समाज में सवर्णों द्वारा धर्म-परंपरा के नाम पर होने वाले लूट, हत्या, बलात्कार, अन्याय आदि का खुलकर विरोध करती हैं और अपने समाज को शिक्षा, न्याय और आत्मसम्मान के अधिकार के लिए संघर्ष की प्रेरणा देती हैं। वे मानती हैं कि "संघर्ष की राह / सिखाती है / सम्मान के साथ जीना / युगों-युगों तक!"[40] कवयित्री अपने समाज को

असमानता, विषमता और शोषण से मुक्ति का पाठ पढ़ाती है। उनकी भाषा का सादापन भी यही ध्वनित करता है। अपनी कविता में अपने समाज से संवाद करती हुई कवयित्री अधर्म रूपी धर्म की आलोचना करती है। बुद्ध, अम्बेडकर, ज्योतिबा फुले, साबित्री बाई आदि उनके आइकॉन हैं। 'दिग्भ्रांत' करने वाले पथ का अनुसरण कवयित्री को अब साध्य नहीं, वह अपने पूर्वजों के ऐतिहासिक बलिदान और भूलों को नहीं दोहराएंगी। गुलामी की जंजीरों को तोड़कर अपने समाज को आगे बढ़ाएंगी : "जानकर पूर्वजों का इतिहास / पाकर दिशाज्ञान / नहीं रहेंगे दिग्भ्रांत / बीत गया सामंतशाही, तानाशाही युग / तोड़ देंगे मनुवाद के संरक्षक स्तंभ / वर्ण-जाति की श्रेष्ठता। / नहीं बन सकते अब बंधुआ मजदूर / स्वतंत्र देश के प्रजातंत्र के / संविधान के अधिकारों के / हम भी भागीदार / नहीं रहेंगे अब दिग्भ्रांत।"[41] सामाजिक संरचना में गढ़ बना चुके अमानवीय मनुवादी संस्कार की जड़ों को ध्वस्त करना ही आजादी का मूल पर्याय है। कवयित्री की भाषा में जो आवेग या अट्टहास है, वह पीड़ित हो चुकी मानवता का दंश है जिसे वह समाज में आज भी झेलने को अभिशप्त है। संविधान ने जरूर उन्हें ताकत दी है लेकिन समाज में पितृसत्ता और सवर्णवादी वर्चस्व की राजनीति ने उसे और भी सांप्रदायिक रूप दे रखा है। इस रूप में दलित आदिवासी की कविता केवल अनुभव की अभिव्यक्ति भर नहीं है, अपितु वह उन सामाजिक परिस्थितियों का अंकन भी है जिसमें वे और हम जी रहे हैं।

जल-जंगल-जमीन की जुबान ही आदिवासी स्त्री-कविता की जुबान है। आदिवासियत और आदिवासी जगत की काव्याभिव्यक्ति हिंदी कविता में निरंतर कुछ न कुछ नया जोड़ रही है। आदिवासी लेखन भी अस्मिता विमर्श को ठोस आधार प्रदान करता है। सरकारी व्यवस्था का दमनचक्र, मुख्यधारा समाज का घृणा भाव और आदिवासी विरासत (जल-जंगल-जमीन और जुबान आदि) के विध्वंस के साथ ही अपने ही समाज की कुप्रथाओं, अकर्मण्यताओं आदि का साहसिक प्रतिरोध आदिवासी स्त्री-कविता की मूल चेतना है। आदिवासी कविता का एक दूसरा छोर भी है जहाँ प्रकृति के प्रति अगाध निष्ठाभाव, प्रेम की अनंतता और प्राकृतिक

परंपराओं से बिसुरने का भय या अपने वाचिक इतिहास आदि को कविता में मूर्त करना, उसे जीवंत बनाना। नयी पीढ़ी और विश्व भर की संघर्ष गाथा आदि को एक स्वर में कह देने की लालसा भी आदिवासी स्त्री-कविता की मौलिकता है। आदिवासी स्त्री-कविता को एक नयी पहचान देनेवाली कवयित्री निर्मला पुतुल की काव्यभाषा आदिवासियत जुबान को वहन करती है। इनकी कविताओं में भी सादगी की वही लय है जो स्त्री-कविता की सभी कवयित्रियों में अलग-अलग स्वरों में संबद्ध है। कविता को आंदोलन और वंचितों-शोषितों की मजबूत आवाज मानने वाली कवयित्री कविता के मार्फत ही पूरी कौम से संवाद कायम करना चाहती है। वह कविता में भाषा की जादूगरी के सख्त खिलाफ है। कविता में सब कुछ लिख देने की उद्‌द्याम भावना से वह कविता लिखती है। आँखों देखी बात को कविता में उतारने और सच को सच और झूठ को झूठ लिखने की ताकत निर्मला पुतुल की कविताओं की जमीन है। 'जो कुछ देखा-सुना, समझा, लिख दिया' कविता की पूरी बानगी उस भाव से पूरित है जिसमें कोई व्यक्ति अपनी जुबान से ही सब कुछ कहना चाहता है - "बिना किसी लाग-लपेट के / तुम्हें अच्छा लगे, न लगे, तुम जानो / चिकनी-चुपड़ी भाषा की उम्मीद न करो मुझसे / जीवन के ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर चलते / मेरी भाषा भी रुखड़ी हो गयी है / मैं नहीं जानती कविता की परिभाषा/ छंद, लय, तुक का कोई ज्ञान नहीं मुझे / और न ही शब्दों की परिभाषाओं में है मेरी पकड़ / घर- गृहस्थी संभालते / लड़ते अपने हिस्से की लड़ाई / जो कुछ देखा सुना भोगा / बोला-बतियाया / आस-पड़ोस में संगी-साथी से / लिख दिया सीधा-सीधा स्लेट पर / टेढ़े-मेढ़े, अक्षरों में जैसे-तैसे।"[42] रुखड़ी भाषा का यह स्वीकार भाव ही कविता का नया स्थापत्य है और सौंदर्य भी। कविता और भाषा के प्रति कवयित्री का यह रुख भाषा में व्याप्त कथित मर्यादाभाव को तोड़ता है। 'मैंने मैं शैली अपनाई' की तर्ज पर कवयित्री अपने समाज, सत्ता और स्त्रियों पर होने वाले शारीरिक-मानसिक-भाषिक हिंसा को कविता में अभिव्यक्त करती है। आदिवासी स्त्री-कविता की सबसे बड़ी देन है उनकी शब्द-संपदा। आदिवासी बोली-भाषा के नवीन शब्दों

से स्त्री-कविता समृद्ध हो रही है। यह साहित्येतिहास की परंपरा में भाषा के दृष्टिकोण से हिंदी कविता में नवीन हस्तक्षेप है। आदिवासी जगत, उनके चरित्र और उनकी संस्कृति को समझने में इन शब्दों-भावों का योगदान होगा। ये उनके सांस्कृतिक मूल्यों के वाहक भी है और अपनी ऐतिहासिकता का प्रमाण भी।

'झाड़ने' (छाने, बनाने), 'टाँगी' (कुल्हाड़ी), 'गुमसाए' (कुम्हलाए), 'संघना' (करील/बांस), 'सखुआ' (शालवृक्ष), 'अखरा' (नाचने का स्थल), 'तोलोंग' (पुरुषों का कमर में बाँधने का पट्टा जो आगे पीछे झूलता है), 'अंगनयी-डमकच' (एक प्रकार का आदिवासी राग), 'पियार-पिठोर' (जंगली फल जो ग्रीष्णकाल में होते हैं), 'ढ़ोढ़ा' (नाला), 'बेतरा' (बच्चे को पीठ पर बाँधने वाला कपड़ा), 'गोढ़ा' (गुलेल से फेंकें जाने वाला पत्थर), 'विट्ठल' (बहिष्कृत), 'सलय-सलय' (मंद-मंद लहराना), 'गोजो' (अंकर), 'कनकारते' (चुभते), 'खोढ़र' (पेड़ में बने खोढ़र, जिनमें पक्षी अंडे देते हैं), 'लिट्टा' (परिवार में सबसे छोटा व्यक्ति उम्र के हिसाब से), 'पड़हा' (गाँवों के समूह का प्रधान), 'भुईफुट' (भूमि फोड़ कर पैदा होने वाला बच्चा), 'चारु' (मिट्टी से बना खाना बनाने का बर्तन), 'गुंग' (पत्तों से बनी औरतों के लिए बरसाती), 'कुमनी' (मछली फँसाने की टोकरी), 'लोला' (झुमका), 'फुटकल' (एक गाछ), 'केंदरा' (बाँस का वाद्य-यंत्र जिससे केवल शोक-गीत की ध्वनि निकलती है), 'कोड़ा' (नवयुवक) आदि ऐसे सैकड़ों शब्द आदिवासी जगत की विभिन्न बोलियों से हिंदी कविता में आए हैं। ये शब्द निश्चित रूप से साहित्य की परिधि को विस्तृत करते हैं और आदिवासी साहित्य की स्वायत्तता को स्थापित करते हैं। निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, रोज केरकेट्टा, वंदना टेटे, ज्योति लकड़ा, जंसिता केरकेट्टा, आलोका कुजूर, सरस्वती सिंह बड़ाईक आदि कवयित्रियों ने विभिन्न आदिवासी बोली-भाषाओं से हिंदी की स्त्री-कविता को एक नयी दुनिया, एक नयी परिभाषा और शब्द-संपदा के द्वारा एक नवीन भाषा भी दिया है।

समकालीन हिंदी की स्त्री-कविता ने भाषा के व्यापक पैमाने अथवा क्षितिज को और भी विस्तृत रूप दिया है। स्त्री-भाषा पदबंध भी उसी विस्तार का हिस्सा है। स्त्री-जीवन के अनुभव और विचार की एक नयी दुनिया कविता में बन रही है जो अधिक प्रामाणिक व यथार्थोन्मुखी जान पड़ती है। भाषा के जरिए पूरे विश्व को एक सूत्र में बाँधने वाली स्त्री-भाषा पूर्णतः अहिंसक, संवादधर्मी और विवेकसम्मत पथ का अनुसरण करती है। अनामिका, कात्यायनी, गगन गिल, सविता सिंह, नीलेश रघुवंशी, शुभा, आदि से लेकर रंजना जायसवाल, अनीता वर्मा, रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, निर्मला पुतुल आदि कवयित्रियों के स्वर में जो भाषिक विविध-धर्मिता है, वह जीवन के विभिन्न रंगों, उत्सवों एवं क्रूरताओं को भिन्न-भिन्न धरातल पर अभिव्यक्त करती है। समस्याएं एक होने पर भी स्थान, परिवेश, देशकाल, जाति, नस्ल, वर्ण आदि के प्रभावों के कारण उनकी अभिव्यक्ति की भाषिक संरचना बदलने लगती है। दलित-आदिवासी स्त्री-कविता का स्वर उन्हीं भिन्नताओं की ओर संकेत करता है। अस्मिता विमर्श के इन भिन्नताओं को कविताएं ही एक सूत्र में पिरोती हैं, बहनापा भाव उन्हें और भी संवर्धित करता है। स्त्री-कविता का 'स्त्रीत्व' स्त्री-कवियों की आंतरिक लय को पूरी मानव-सभ्यता से जोड़ता है। यहाँ मुक्ति का प्रयाण भी स्त्री-कविता पूरी मानव जाति के उत्थान में देखती है। पितृसत्ता की जड़ीभूत हो चुकी मान्यताओं को स्त्री-भाषा के जरिए ही ठोक-पीटकर उसे अतिवाद के गह्वर से निकाला जा सकता है और समाज को जेंडर न्यूट्रल होने की दिशा में आगे बढ़ाया जा सकता है। स्त्री-कवियों की भिन्न भाषा उनकी आत्मगत-अस्मितागत पहचान को तथा उनकी तलाश को भी एक नया अर्थ देती है।

ii. स्त्री-कविता में बिंब, रूपक और मिथकों का प्रयोग :

मानव-सभ्यता की विकास प्रक्रिया में भाषा एवं साहित्य की अहम भूमिका रही है। भाषा और साहित्य ने मनुष्य के वृहत्तर संस्कारों को शब्दों में निबद्ध किया। भाषा के विविध रूपों ने मनुष्य की कल्पना और यथार्थ को कई-कई रूपों में अभिव्यक्त किया है। मनुष्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में प्रतीकों-बिंबों और विभिन्न संकेतों के द्वारा ही आचार-विचार की प्रणाली को विकसित किया था। भाषा की उत्पत्ति और शब्द-अर्थ का विकास यह ध्वनित करता है कि मानव-सभ्यता निरंतर अपनी मूल्य चेतना को भाषा और साहित्य के जरिए उत्कृष्ट रूप देती रही है। भारतीय ज्ञान-परंपरा में शब्द को 'ब्रह्म' की उपाधि प्राप्त है। भारतीय वाङ्गमय में भी भाषा के विकास की गति में बिंबों, रूपकों तथा मिथकों का योगदान निर्विवाद है। हिंदी साहित्येतिहास की परंपरा में बिंब, रूपक, प्रतीक एवं मिथक आदि का प्रयोग साहित्य को संप्रेषणीय व प्रभावी बनाने के लिए किया जाता रहा है और आज भी अनवरत रूप में युग की परिस्थितियों के अनुकूल साहित्य-सर्जना में इनका प्रयोग होता है। हिंदी कविता की परंपरा में विन्यस्त बिंब, रूपक, प्रतीक एवं मिथक का संसार मनुष्य जाति के निरंतर विकसित होते सामूहिक चित्तवृत्ति का संसार है। बिंबों-रूपकों में अपनी बात कहने वाली मनुष्य जाति की अर्थ-छवियों को कविताओं में विस्तृत आयाम दिया गया। इस तरह साहित्य-कविता आदि भी बिंबों, रूपकों व मिथकों के ऐतिहासिक संसार को सामने लाती हैं। प्राचीन, मध्ययुगीन एवं आधुनिक समाज-विकास की संरचना ने उनके कई रूपकों, प्रतीकों, बिंबों आदि को स्थायी रखा तो कुछ बिंब, प्रतीक, रूपक आदि का प्रयोग युग के प्रवाह में परिवर्तित हुए या लुप्त हो गये।। आधुनिक हिंदी कविता की परंपरा में इन काव्यशास्त्रीय रूपों का प्रयोग अपनी पूर्ववर्ती कविता व कवि के दाय को स्वीकारते हुए आगे बढ़ता है। कवि नए बिंब, नए प्रतीक, नए मिथक और मिथकों की नयी अर्थ-छवियों को कविता में अभिव्यक्त करते हुए भी कवि-परंपरा की लीक को नहीं छोड़ता है। कविता को जातीय चेतना से जोड़ने में, मानव-मूल्य को विकसित करने में तथा समाज को

सकारात्मक दिशा देने में व भाषा को संवर्धित करने में बिंबों, रूपकों एवं मिथकों का नवीन प्रयोग कविता की प्रभावोत्पादकता को बढ़ा देता है। कविता के सौंदर्य व स्थापत्य को भी युग-सापेक्ष रखने में बिंबों, रूपकों तथा मिथकों का प्रयोग प्रभावी रहा है।

समकालीन हिंदी कविता व पूर्ववर्ती स्त्री रचनाशीलता में बिंबों, रूपकों एवं मिथकों का प्रयोग रूढ़ अर्थों में न होकर नवीन अर्थों में हुआ है। स्त्री के अनुभव संसार में बिंब और रूपक उनके निजी भावों- आत्मगत तत्वों को व्यक्त करने में सहायक रहें हैं। स्त्री-जीवन में मिथक को पितृसत्तात्मक संरचना ने इस तरह एक-दूसरे का पर्याय बना दिया कि स्त्रियों को उन मिथकों से आज भी बाहर निकालना मुश्किल है। स्त्री को पितृसत्ता का गुलाम बनाए रखने में पुरुष द्वारा निर्मित मिथकों की अहम भूमिका रही है। स्त्री को कोमलांगी, सौंदर्य की प्रतिमूर्ति, माया-छलना, देवी-दासी, कामिनी-यामिनी आदि सैकड़ों अलंकरणों में अलंकृत करने का श्रेय मिथकों को ही है। स्त्री-लेखन इन तमाम रूढ़िवादी- पुरुषोचित्त कुप्रथाओं- कुप्रवृत्तियों को धता बताते हुए स्त्री के मानवी स्वरूप को घोषित करता है। साहित्येतिहास में पुरुषवादी वर्चस्व की राजनीति में ऐसी कई भारतीय वीरांगनाओं, विद्रोही स्त्रियों को साहित्य और इतिहास से बाहर रखा। यही कारण है कि साहित्य और इतिहास में स्त्री-रचनाशीलता की निरंतरता हमें देखने को नहीं मिलती। लेकिन जब-जब स्त्रियों ने कलम उठायी पुरुष सत्ता, राजसत्ता और धर्मसत्ता की क्रूरता को उजागर किया। स्त्री को मनुष्यता की पदवी से देवी का आसन देना और फिर उसी तथाकथित देवी को विभिन्न बन्दिशों में रखना पितृसत्ता-धर्मसत्ता के दोहरे चरित्र को दर्शाता है। स्त्री रचनाशीलता का आधुनिक स्वरूप इन मानव विरोधी तत्वों की पहचान करते हुए उस पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। मध्ययुग की मीरा हो या आधुनिक युग की महादेवी, सुभद्रा कुमारी चौहान या उनके बाद की स्त्री कवियों ने जिन बिंबों, रूपकों और मिथकों का प्रयोग किया ; वह उनके आत्माभिव्यक्ति के साथ-साथ समाज में निहित पुंसवादी कुटिलताओं के प्रतिरोध को भी दर्शाता है। लोकविश्वास और लोककथाएँ भी इस बात की पुष्टि करती हैं कि स्त्रियाँ और बच्चे

सदैव ही रूपकों में अपनी बातें कहते रहे हैं। आमजन भले ही देर से समझें लेकिन उनके संकेतों, आशंकाओं को अंततोगत्वा स्वीकार करना होता है।

नौवें दशक एवं उसके बाद उभरी कवयित्रियों ने पारिवारिक-सामाजिक व राष्ट्रीय परिवर्तनों को जिस रूप में ग्रहण किया है, वह अपने आप में समाज के ढांचे व सामाजिक आचार-विचार के द्वंद्व को सामने लाता है। एक तरफ स्त्रियों की आजादी का स्वाँग, दूसरी तरफ उन्हें पण्य वस्तु में बदलने वाली पूँजीवादी-पितृसत्तात्मक नीतियों के खेल ने स्त्री-चिंतन को गहरे प्रभावित किया। विभिन्न स्त्री-चिंतक, विमर्शकारों, समाजशास्त्रियों ने इन पहलुओं पर गौर किया है। हिंदी में कात्यायनी, अनामिका, रंजना जयसवाल, गगन गिल, रजनी तिलक आदि का चिंतन राष्ट्रीय स्तर पर स्त्री की स्थिति का ब्योरेवार मूल्यांकन करता है। सभी स्त्री-कवियों में बाहर निकली स्त्री और घर के भीतर खटती स्त्री के सभी रूपों, स्थितियों का अंकन भाषा की अलग लय में होती है। कहीं वह खालिस बयान सरीखा है तो कहीं वह बिंब व रूपक के अर्थ में और कहीं मिथकों-प्रतीकों के सहारे इतिहास में गोता लगाकर अपने वर्तमान की स्थिति का चित्र प्रस्तुत करता है। अनामिका की कविता स्त्री की ऐतिहासिकता और आधुनिकता की यात्रा को जिन महीन बिन्दुओं पर कविता में बाँधती है, वहाँ बिंब, रूपक, मिथक तथा प्रतीक आदि सभी काव्यरूप गले मिलते नजर आते हैं। थेरी गाथा के बहाने कवयित्री इतिहास, वर्तमान और भविष्य के विभिन्न रूपकों को सामने लाती है। थेरियाँ स्त्री की प्रेरणा होने के साथ ही मनुष्य मात्र के उन भावों-मनोविकारों की भी प्रस्तुतियाँ हैं जिनसे हम बंधे होते हैं। गगन गिल ने भी अपनी कविताओं में मनुष्यता के जिस उच्चासन और आदर्श की बात कही है, वह यूटोपिया से अधिक जीवन के करीब है। उनके बिंब और रूपक स्त्रीत्व की परिधि का विस्तार करते हैं। सविता सिंह की कविताओं की स्त्री प्रकृति और अपने यथार्थ रूप में पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना की किलेबंदी को भेदती है। रात, नींद, सपने, कल्पना-यथार्थ आदि बिंबों-रूपकों के सहारे कवयित्री जिस एक बात को बार-बार कहना चाहती है वह मनुष्य मात्र की मुक्ति ही है।

कवयित्री शुभा ने पुरुषवादी लैंगिक उग्रता भाव को दर्शाने के लिए जिन रूपकों का प्रयोग किया है, वह पौरुषिक पाशविकता को धिक्कारता है। कात्यायनी की कविताओं में प्रयुक्त बिंब, रूपक व मिथक स्त्री-जीवन के आधुनिक संदर्भों को लिए रहती है। ऋग्वेद की संहिताएँ हो या 'त्रियाचरित्रां पुरुषस्य भाग्यं' आदि में स्त्री-जीवन को सन्नद्ध कर देने की वर्चस्ववादी नीतियों की वह पुरजोर मुखालफत करती हैं।

रंजना जायसवाल की कविताएं प्रकृति और लोकमानस में व्याप्त उन परतों को बिम्बात्मक रूप में सामने लाती हैं जिसकी कल्पना संभवत: एक स्त्री ही कर सकती है। बाजारवाद, मीडिया, साहित्य आदि का रूपक कविता में अलग-अलग अर्थों की व्याप्ति करता है। अनीता वर्मा की सघनता स्त्री-जीवन के आंतरिक संघर्षों और उनपर होने वाले बाजारवादी-पूँजीवादी हमलों को जिन संकेतों में व्यक्त करती है, वह भविष्य के खतरे की आहट है। नीलेश की कविताएं आम जनमानस और स्त्री की आम दिनचर्या को सहजता से नवीन बिंबों, रूपकों में संजोती हैं। 'हंडा', 'ढाबा' आदि का मेटाफर स्त्री-जीवन और निम्नमध्यवर्गीय परिवार की कारुणिक दास्तान है। दलित और आदिवासी स्त्री-कवियों के प्रयोग और भी व्यापक अर्थ वैशिष्ट्य को समेटे हुए है। कल्पना और कोमलता से इतर यथार्थ और स्वानुभूति के गहरे धरातल पर उनका आद्यबिंब पाठक को झकझोरता है। आदिवासी जगत की कविता में प्रयुक्त नवीन बिंब प्रकृति के साथ मनुष्य के माधुर्य संबंध तो दिखाता ही है; लोकतंत्र जैसे मूल्यों को भी पेड़-पौधों के बिंब के सहारे कविता में अभिव्यक्त करना केवल और केवल आदिवासी जीवन में ही संभव है।

आधुनिक हिंदी कविता में बिंब की प्रधानता और प्रयोगिकता कविता के विविध अर्थ-विस्तार का द्योतक है। कई कवियों ने बिंब को परिभाषित किया है। स्त्री-कविता में भी बिंब उनमें अंतर्युक्त विचारों अथवा भावों का ही प्रतिफलन है। बिंब कविता के सौंदर्य एवं अर्थ को व्यापक संदर्भों से जोड़ता है। बिंब की निम्नांकित परिभाषाओं में उसके प्रभावों को देखा जा सकता है:-

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार :

"काव्य का काम है कल्पना में 'बिंब' (Images) या मूर्तभावना उपस्थित करना ; बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं।"[43]

डॉ. नगेंद्र के अनुसार :

"कला की सर्जना वस्तुतः बिंब-रचना का ही नाम है।"[44]

केदारनाथ सिंह के अनुसार :

"कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिंब-विधान पर।"[45]

सी.डी. लेविस के अनुसार :

"The poetic image is more or less a sensuous picture in words, to some degree metaphorical, with an undernoted and some human emotion, in its context but also charged with releasing into the reader a special poetic emotion or passion."[46]

एजरा पाउंड के अनुसार :

"बिंब वह है जो किसी बौद्धिक तथा भावात्मक संश्लेष को समय के किसी एक बिंदु पर संभव करता है।"[47]

रूपक की परिभाषा :

"दो भिन्न-भिन्न प्रकृति की वस्तुओं को जोड़कर देखना रूपक है।"[48]

"संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रूपक' दो अर्थों में प्रयुक्त होता – नाट्य के अर्थ में और अलंकार के अर्थ में। नाट्य के अर्थ में इसके प्रयोग में दो विशेषताएं पायी जाती हैं – दृश्यमानता और आरोप।

नाट्य दृश्य काव्य है। चाक्षुषग्राह्य होने के कारण इसे 'रूपं दृश्यतच्यते' – भी कहा जाता है। एक वस्तु पर अन्य आरोप के कारण – रूपकं तत्स्मारोपात – इसे रूपक कहते हैं।"[49]

मिथक की परिभाषा :

"हिंदी में मिथक शब्द अँग्रेजी शब्द 'Myth' से निर्मित हुआ है। अँग्रेजी में जो मिथ है वह, हिंदी में मिथक है। मिथक दरअसल परंपरागत पौराणिक कथा के पात्र या प्रसंग को संकेतित करता है, जिसका वास्तविकता से भले कोई संबंध न हो, लेकिन जो समुदाय विशेष के बीच लोकप्रिय हो और उसकी सामूहिक चेतना का अंग हो। इसका तर्क से संबंध नहीं होता, यह लोकविश्वास का अंग होता है और इसमें कोई न कोई सार्वभौम संदेश होता है।"[50]

"मिथक मानवजाति की शिशुता के सामूहिक स्वप्न हैं। उनका समय समय-स्वप्न है। वे अवचेतन की अनादि वासना की अंगड़ाइयाँ हैं। वे पूर्व-तर्कीय चिंतन के प्रतिफल हैं। वे लोकविश्वासों की धुरी हैं।"[51]

"रूपगत सुंदरता को माधुर्य (मिठास) और लावण्य (नमकीन) कहना बिलकुल झूठ है; क्योंकि रूप न तो वह मीठा होता है, न नमकीन। लेकिन फिर भी कहना पड़ता है, क्योंकि अंतर्जगत् के भावों को बहिर्जगत् की भाषा में व्यक्त करने का यही एकमात्र उपाय है। सच पूछिये तो यही मिथकतत्त्व है। ... मिथकतत्त्व वस्तुतः भाषा का पूरक है। सारी भाषा इसके बल पर खड़ी है। आदि-मानव के चित्त में संचित अनेक अनुभूतियां मिथक के रूप में प्रकट होने के लिए व्याकुल रहती हैं, ... मिथक वस्तुतः उस सामूहिक मानव की भाव-निर्मात्री शक्ति की अभिव्यक्ति है जिसे मनोविज्ञानी 'आर्किटाइपकल इमेज' (आदिम बिंब) कहकर संतोष कर लेते हैं।"[52]

बिंब, रूपक एवं मिथक की उपरोक्त परिभाषाएं काव्य-सर्जना में इनके प्रयोगों की अनिवार्यता व अपरिहार्यता को दर्शाती है। बिंब कविता में अमूर्त विचार अथवा भावना को पुनर्निर्मित करता है, उसकी अंतर्वस्तु को एक रूप (image) देता है तो वहीं रूपक (metaphor)

कविता के संसार में निहित साम्य-वैषम्य प्रवृत्ति वाली वस्तुओं, घटनाओं, कथाओं आदि से जोड़कर उसकी संप्रेषणीयता को प्रभावी बनाता है। मिथक या मिथ (myth) जब कविता में अपना रूप ग्रहण करता है तब वह अपने तत्कालीन अर्थ की व्याप्ति को छोड़कर युग के अनुकूल अर्थ की उत्पत्ति करता है। इस अर्थ में मिथ या मिथक मानव के इतिहास को, उनके पुराकथाओं को मनुष्य की नवीन चेतना से उद्दीप्त करता है। स्त्री-कविता में इन काव्य रूपों का प्रयोग समाज के जेंडर संबंधी पूर्वग्रह को दूर करने में किया जाता है। अनामिका स्त्री-कविता की परंपरा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उनकी कविताओं में प्रयुक्त भाषिक विन्यास और बिंब, रूपक, मिथक आदि का प्रयोग स्त्री-भाषा की सरल-सहज पारदर्शी शैली को ठोस रूप प्रदान करता है। स्त्री के अनुभव संसार घर-परिवार, रिश्ते-नाते, बाहर-भीतर, दैनंदिनी क्रिया-कलाप आदि से ही वे काव्य बिंब-रूपकों को उठाती है। जब इन बिंबों-रूपकों की अंतरंगता कविता में एकमेक होती है तो वह स्त्री जीवन को पूर्णतया आभामंडित करती है। 'बेजगह', 'टूटी-बिखरी और पिटी हुई', 'बस टिकट', 'बम', 'पुराने दोस्त', 'घूँघट के पट खोल रे', 'पूरे चाँद की रात', 'भिन्न', 'दरवाजा', 'नायिका भेद', 'सभा भवन की दरी', 'प्रसूति-गृह में पिता' आदि और भी दर्जनों कविताएं हैं जिनमें कवयित्री अधुनातन बिंबों का प्रयोग करती है। 'बेजगह' कविता में 'अपनी जगह से गिरकर कहीं के नहीं रहते केश, औरतें और नाखून' या 'लड़कियाँ हवा, धुप, मिट्टी होती है, उनका कोई घर नहीं होता' का बिंब स्त्री-जीवन के अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह लगाता है। कवयित्री इस एक सामान्य सामाजिक पूर्वग्रह को कविता का रूप देती है। 'टूटी-बिखरी और पिटी हुई' में पारिवारिक पौरुषिक हिंसा की शिकार स्त्री का बिंब और भी चिर-परिचित बिंब हैं जिसे प्राय: देखा-सुना जाता है। कवयित्री इन कविताओं में सूक्तियों का भी भरपूर प्रयोग करती है। अनामिका के काव्य बिंब परिवार-समाज में निरंतर घटने वाली वे घटनाएँ या कथाएँ हैं जिन पर प्राय: ध्यान नहीं जाता -

"मैं रोटी बेलती हूँ जैसे पृथ्वी।

ज्वालामुखी बेलते हैं पहाड़।

भूचाल बेलते हैं घर

सन्नाटे शब्द बेलते हैं, भाटे समुंदर।

रोज सुबह सूरज में

एक नया उचकुन लगाकर,

एक नयी धाह फेंककर

मैं रोटी बेलती हूँ जैसे पृथ्वी।"[53]

"उसका नन्हा पार्लर है घरौंदा

पीटकर निकाली गई औरतों का!

जो पिटकर आती हैं घर से

या नुचकर दफ्तर से-

बैठ जाती हैं यहाँ आकर।

... ...

आँख मूँद सो जाने की खातिर

दुनिया से मुँह मोड़कर।"[54]

"लगातार ही मुस्कुराने को अभिशप्त

उस भली औरत का

सूखने लगा था गला

... ...

बाजार कल्पतरु है कर सकता है कायाकल्प-"[55]

"उन्होंने लक्ष्मीबाई को 'मर्दानी' कहा

लेकिन 'मर्दानी' हो

खुद वे कभी नहीं लड़ी,

तब भी नहीं जब वे

प्रत्यक्ष उतरीं सड़क पर अन्याय से लोहा लेने!"[56]

"ऊसर में एक गिद्ध निश्चिंत बैठा है-

भूख-प्यास से ऐंठे बच्चे

तीन कदम पीछे!

ठठती में साँसे बची हैं अभी!

गिद्ध अद्भुत् शील दिखा रहा हैं धैर्य का!"[57]

अनामिका की भाषा में लोक-संवेदना का राग है जो उन्हें किसी दृश्य की गतिमानता को एक झटके में समझने का बल देता है। संपूर्ण पृथ्वी को रोटी बेलते देखना हो या पारिवारिक-सामाजिक हिंसा की शिकार औरतों का पार्लर में निश्चिंतता की साँसे लेना या दृश्यों-चित्रों और रिसेप्सन में बैठी लड़कियों की झूठी मुस्कुराने की मजबूरी आदि सभी स्थानों पर कवयित्री की आत्मीयता जुड़ती है। 'गृहलक्ष्मी', 'ब्यूटी कल्चर' बाजारवादी नीतियों का 'अस्टावक्र' अवस्था में बैठे बच्चे को गिद्ध की शीलता के साथ देखना आदि पूरी व्यवस्था और व्यवस्था में निहित हैवानियत की तसदीक है। लक्ष्मीबाई कभी 'मर्दानी' भाव से नहीं लड़ी। 'मर्दानी' हो कभी नहीं लड़ी का आशय है वह एक स्त्री की तरह ही लड़ी अपने आत्मस्वाभिमान और राष्ट्र के लिए। स्त्रीत्व की 'मर्दानी' परिभाषा बदलने और स्त्री-शक्ति की मूल चेतना को समझाने के लिए लड़ी। अनामिका बार-बार इतिहास और वर्तमान की आवाजाही करती हैं और स्त्री के प्राकृतिक स्वरूप को निखारते हुए पुरुषसत्ता की फूहड़ता की खिल्ली उड़ाती हैं। कविता के

कलेवर में ये बिंब विमर्श की अपेक्षा तो रखते ही हैं, अपने इतिहास, वर्तमान और भविष्य के प्रति सजग भी करते हैं। अपने द्वारा चयनित बिंबों, प्रतीकों को कवयित्री बोझिल या उबाऊ नहीं बनने देती। झाड़ू लगाती, बर्तन धोती, जुएँ चुनती, खाना बनाती, कार्यालयों में खटती या आपस में हँसती-बतियाती स्त्रियों के बिंब उनकी काव्य-दृष्टि से परिपाक होता है। ग्रामीण हो या शहराती सभी स्थानों पर उनका लोकरंग और लोकरस जिसमें संवाद का स्थान सर्वोपरि है, बना रहता है। कविता में नवीन बिंबों का प्रयोग व कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक कहने की लालसा ही उनकी कविता को बिंबों से बोझिल होने से बचाती है : "इस मन के चिकने दर्पण में / अनुभव के कुछ मलिन बिंब हैं / एक रूप नीरस जीवन में / घुटते से कुछ पले दंभ हैं / ये ही बिंब और ये ही दंभ हैं संपदा मेरी।"[58] अर्थात न बिंब की बोझिलता और न ही प्रतीकों की बहुलता। अपनी 'ऊनी टोपी' कविता में कवयित्री ने ऊनी टोपी को जितने प्रतीकों में बांधा है, वह भी स्त्री-जीवन के परंपरागत खोह से मुक्ति को दर्शाता है। लेकिन इस मुक्ति की घोषणा में इतना मनुहार व्यक्त हुआ है जैसे किसी बच्चे के दुलार-प्यार भरे शब्द हों – "टोपी का घेरा प्रतीकित हो जैसे / बाँहों के घेरे में, उन में जैसे प्रतीकित हो उष्मा / अंतःस्थल की! बाबा रे बाबा, ये कितने प्रतीक! / गुइयाँ बनोगे, प्रतीकों? फांदोगे मेरे संग दीवार?"[59] प्रतीकों में बस उतना ही बोलना जितनी की आवश्यकता है। कवयित्री के मानस में इन बिंबों-प्रतीकों का सरलीकरण स्वतःस्फूर्त होता है, "अनामिका के पास दृश्य बिंबों को सजीव करने वाली भाषा है, बिंबधर्मिता पर इनकी पकड़ अच्छी है ...भाषा की यह विशिष्टता अनामिका की अपनी है।"[60]

अनामिका रूपकों और मिथकों के प्रयोग स्तर पर सचेत व नवोन्मेषी दृष्टि का परिचय देती हैं। लोकगीतों में व्याप्त स्त्री के आत्मगीत, आत्मकथा हो या आत्मवेदना आदि सभी का विश्वायन स्वरूप कविता में मढ़ देती है। 'कैदियों के जूते', 'देश', 'गालियां सुन लेने का शील', 'मरने की फुर्सत', 'आम्रपाली', 'इतिहास', 'गठरियाँ', 'भेड़िया', 'बंदीगृह', 'कमरधनियाँ',

‘देश-प्रेम’, ‘टोटके’ और ‘बंगाल का काला जादू’ आदि कविताओं के रूपक स्त्री-जीवन ही नहीं, पूरे भारतीय जनमानस की चित्तवृत्ति में व्याप्त पितृसत्ताकीलित मनोविकारों को व्यक्त करता है। इन कविताओं में स्त्री की समस्याओं को, आमजन की समस्याओं को तथा लोक में बसी मिथकीय द्वंद्व को कवयित्री अलग भाषा रूप में प्रस्तुत करती है। ‘कमरधनियाँ’ कविता में कमरधनियाँ का रूपक या ‘कविता में औरत’ में सीता का मिथक आदि की कविता में प्रस्तुति बेजोड़ है :

“काम के बोझ से कमर टूटी जिनकी,
उनकी भी होतीं कमरधनियाँ,
चाहे गिल्लट की होतीं, लेकिन होतीं!
झनझन-झन बजतीं वे
मिल-जुलकर मूसल चलाते हुए!
... .
अब कमरधनियाँ नहीं है
कमर अब कसी हैं इरादों से
और औरतों ने आवाज़ उठा ली है,
दादियों की बात मानते हुए
कि ऐसा भी धीरे क्या बोलना,
आप बोलें, कमरधनी सुनें!”[61]

और मिथक प्रयोग की शैली –

“बुद्धिमती थीं सीता!
शोक के महाकाश से सोना बरसाकर
राम को दिखाया था रास्ता!

सिद्ध किया था अपने ढंग से

लापता लोग नहीं होते

पूरी तरह लापता।"[62]

उपरोक्त पंक्तियों में रूपक और मिथक का प्रयोग स्त्री-जीवन को वृहद संदर्भ से जोड़ता है। 'कमरधनियाँ' का मेटाफर अपने रुनझुन में भी मानव की मुक्ति का आख्यान रचता है। सीता का त्याग और सहिष्णुता ही राम को मर्यादापुरुषोत्तम बनाता है। इन संदर्भों को स्त्री-कविता भाषा की जिस महीन रूप में गढ़ती है, वह स्त्री-दृष्टि की व्यापकता को दर्शाती है। उनकी कविता 'चिट्ठी लिखती औरत' कब अपने आंतरिक जुड़ाव को, जातीय स्मृतियों में द्रोपदी की साड़ी बना लेती है, यह पता ही नहीं चलता है। यथार्थ और मिथ का यह संघटन ही वास्तविक अर्थों में कविता को संप्रेषणीय बनाता है। सच-झूठ का अनुभव और अंतर भी कवयित्री की विशिष्ट शैली में दमक उठता है। अलग अपमान लिए वह भीषण संसार में स्वयं को उघार सकता है। कवयित्री का सच भी अनुपम है। झूठ को सच करने-कहने की अंधी दुनिया में सच हमेशा ही भारी पड़ता है। कवयित्री अपने सच को 'सतमासे बच्चे' की संज्ञा देती है : "सतमासे बच्चे की तरह / किसी जार में बचाकर पड़ा रहता था। / जो बाहर रह ही नहीं सकता था। / चुपचाप बेचारा पड़ा रहता था। / जो पिलाऊँ, पीकर सो रहता था।"[63] सच की यह प्रवृत्ति ही है कि शांत, स्वच्छ और धवल रूप में अपनी बात कहता है। कड़वी होकर भी उसकी स्वीकार्यता सदैव बनी रहती है। शैली की नवीनता के कारण कवयित्री ने स्त्री के सच को स्त्री-जीवन के अभिन्न भाव स्थिति से जोड़ा है क्योंकि स्त्री-जीवन के सच को सुनना या स्वीकार करना हमेशा समाज के लिए दुष्कर होता है। अनामिका की कविताओं में बिंबों, रूपकों व मिथकों का प्रयोग कविता के अलग संसार का द्योतक है।

गगन गिल की कविताएं एक स्वर में मोनोलॉग की भाँति छोटे-छोटे बिंबों-आद्यबिंबों में बनती हैं। गगन कविता में जिस मानवीय अस्मिता की तलाश करती हैं वह व्यैक्तिकता से

सामूहिकता की ओर उन्मुख होती है। वैश्विक परिघटनाओं-परिवर्तनों के बीच स्त्री की नियति व स्त्री-दृष्टि की सारवत्ता को वे परिभाषित करती हैं। सृष्टि-निर्माण के रहस्य को संभवतः एक स्त्री-दृष्टि से समझा जा सकता है। मानवीय इतिहास, उसके मनोविज्ञान और स्त्रीत्व को गगन गिल जिन प्रतीकों, बिंबों, रूपकों एवं मिथकों के सहारे कहना चाहती हैं, उसके लिए करुणा का बोध अनिवार्य है। निजी हो या निजेतर प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता की वकालत कविता सदैव करती रही है और गगन गिल कविता के इस मातृमना-दृष्टि व भाव को गहराई से अपनी कविताओं में अभिव्यक्त करती हैं। पीड़ा अथवा दुख स्त्री की हो या मानव मात्र की गगन की दृष्टि मनुष्यता के ऊंचे आदर्श की पैरवी करती है। हालांकि स्त्री के नितांत निजी दुखों की कई कविताएं उनके यहाँ मिलती हैं। निःसंतान रहने का दुख, संतान की मृत्यु का शोक और स्त्री-हिंसा आदि केन्द्रित कविताओं का स्वर स्त्री-जीवन के उन पहलुओं को मनोवैज्ञानिक स्तर पर उद्घाटित करता है जिनसे आम जनसमाज अनभिज्ञ ही रहता है। करुणा, विषाद और संताप को मानव जीवन का अभिन्न अंग मानते हुए कवयित्री ने अलग-अलग रूपों में इन्हें व्यक्त किया है :

<u>बिंब :</u>

"इसी तरह हमेशा पड़ती है वह रेलगाड़ी।
ठूँसे रहते हैं उसमें घबराए हुए लोग।
शौचालय तक में।
तिल-भर रखने की जगह नहीं कहीं। बाहर दंगाई हैं।
मार-काट है। भीतर एक स्त्री है। उसकी शर्म है।"[64] – सियालकोट 1947, अंधेरे में बुद्ध।

"तुम सुई में से निकलती हो
मैं धागे में से, माँ

कभी सुई में से मैं

धागे से तुम

कौन सी बखिया!, माँ

हम सिले जा रहीं

सदियों से।"[65]

रूपक :

"टंगा रह जाएगा जलता सूर्य

निरुपाय सौरभ मंडल में

फँस जाएगी समय की नाल

गिर्द अपने ही कंठ के

सिर्फ एक दिन वह स्मृतिहीना

रखेगी अपना दिया

सूर्य और चंद्र के बीच"[66]-सिर्फ एक दिन वह स्मृतिहीना, यह आकांक्षा समय नहीं।

"एक गऊ मेरे भीतर है

जिसे कटने का डर है

जिसे खिलाया जा रहा है चारा

खींची जा रही है

जिसके साथ फोटो"[67] -एक गऊ मेरे भीतर, मैं जब तक आयी बाहर।

मिथक प्रयोग :

"हो मेरे भाग्य का

हो मेरे भाग्य में

उतना ही देना, प्रभु

भले वह भूख हो

भले वह प्यास हो"[68] – वही दाना देना प्रभु, मैं जब तक आयी बाहर।

"कभी-कभी

अँधेरे में भी रखना देवी माँ।

कि देख लें आता

कोई प्रकाश"[69] -देवी स्तुति, मैं जब तक आयी बाहर।

दुख, उदासी, करुणा और विषाद में लिपटे इन भावों में देहांतर स्थितियों में जाने की कोशिश है। कवयित्री सांसारिक दुख और करुणाभाव को बुद्धत्व की उष्मा तक ले जाना चाहती है। देह विदेह की स्थिति में। उनकी कविताओं में बुद्ध का रूपक अथवा उपस्थिति केवल करुणा को जीवन का सार मानने हेतु नहीं आया है बल्कि करुणा सामाजिक यथार्थ को भी अभिव्यक्त करती है। इसलिए बार-बार वे एक मिथकीय प्रतिसंसार रचती है। 'वही दाना देना प्रभु', 'देवी स्तुति' आदि कई कविताएं प्रार्थनास्वरूप में व्यक्त हुई हैं। ये कवयित्री की निजी आस्था है। हालांकि कविता के कलेवर में यह प्रार्थना-भाव कविता में भक्ति भाव, असहायता भी उत्पन्न करता है जो थोड़ा असहज प्रतीत होता है। 'सियालकोट 1947' कविता का दृश्य-बिंब उन्मादी-हिंसक भीड़ के बीच स्त्री की शर्म को जिस रूप में व्यक्त करता है वह काफी संवेदनशील दिखता है।

गगन अपनी कविताओं में मानवीय संवेदना के बाहर-भीतर झाँकते हुए उस सत्यनिष्ठा, निराकार रूप को कविता में लाना चाहती हैं जिसमें सम्पूर्ण मनुष्यता की मुक्ति संभव हो सके। गद्यात्मक शैली में रचित उनके भाव या दृश्य-बिंब कविता को विचारोत्तेजक बना देते हैं। 'सिर्फ एक दिन वह स्मृतिहीना' और 'एक गऊ मेरे भीतर' का रूपक भी कवयित्री को समसामयिक

ज्वलंत मुद्दों से जोड़ता है। स्मृतिहीना का सूर्य और चंद्र के मध्य लौ की रोशनी को स्थापित करना या उनके भीतर के गऊ को कटने का डर होना आदि का रूपक कविताओं को निरासक्ति भाव से भर देता है। मौन की काव्यात्मक अभिव्यक्ति तथा बुद्धत्व का भावात्मक रूप गगन की कविताओं का आधार है। पीड़ा, करुणा, दुख आदि यहाँ निजी भाव या आत्मपरक होकर भी संसार के आर्तनाद व संताप को समेटे हुए है। उनकी भक्ति-भावना भौतिक संसार से पलायन भले ही लगे लेकिन स्त्री के जीवन का वह एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है – अँधेरे के खिलाफ लड़ने का या निराशा के बीच आशा के संचार का। कबीर की तरह अलमस्त फकीरी और 'साई इतना दीजे जामे कुटुंब समाय' की भावना से उद्भ्रांत! गगन की काव्य-संबंधी कविता स्वतंत्रता व नवीनता का पक्षधर है। कविता में स्त्री की निजी भाषा गढ़ने या स्त्री-भाषा की निर्मिति को स्वीकार करते हुए नवीन बिंब, रूपक व मिथक आदि उसे अपनी सांस्कृतिक चेतना से जोड़े रखता है। इस अर्थ में गगन की कविताएं बिंब व रूपक और मिथक को भी नवीन परिभाषा देती है।

कात्यायनी की कविता अपनी यथार्थवादी शैली में बेजोड़ है। उनकी सामाजिक-राजनीतिक चेतना आम आदमी के सवालों को निरंतर कविताओं में उठाती रही है। स्त्री के प्रति शास्त्रों-मिथकों का दुराग्रह व पुरुषवादी मानसिकता पर कात्यायनी जबरदस्त व्यंग्य करती हैं। क्रांति की मशाल लिए उनकी कविताएं सामाजिक-राजनीतिक न्याय की जुबान को जिंदा रखती हैं। साहित्य की राजनीति हो या देश की राजनीति आदि सभी पर कात्यायनी की पैनी नजर बनी रहती है। कविता और जमीन पर कॉमरेडशिप की बुलंद आवाज़ से जनपक्षधरता ही उनकी कविता की आधारशिला है। पूँजीवादी पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना में गुलाम होती स्त्री और वैश्वीकरण के कूटनीतिक दबावों में काम करते सत्ता-तंत्र की वे पोल खोलती हैं। उनके काव्य बिंब, काव्य रूपक एवं मिथकों के प्रयोग इतने साधारण हैं कि एक झटके में अपने अर्थ को खोलते हैं। ऋग्वेद की संहिताओं में स्त्री-जीवन के आदर्श, परिवार में पुरुषों की हिंसा और

समाज में फैलती सांप्रदायिक घृणा को कात्यायनी सरल-सहज बिंबों-रूपकों में व्यक्त करती हैं। 'गुजरात 2002', 'आह मेरे लोग' कविता का दृश्यबिंब समाज में फैले सांप्रदायिक उन्माद का प्रतिफल है। कविता सपाटबयानी में भी मानवीय संवेदना को झकझोरती है और सत्ता-तंत्र पर कई प्रश्न खड़े करती है। कात्यायनी कई स्थानों पर कविता को कई बिंबों-रूपकों में पिरोती हैं। यथा :

बिंब :

"आज भी / लोहे के ही बनते हैं
लौह पुरुष / जंगरोधी इस्पात के
आविष्कार के बावजूद।
बदलते नहीं हैं लौह पुरुष,
अड़ जाते हैं / खड़े-खड़े
जंग खाकर / झड़ जाते हैं।"[70]

"असत्य के टावर की / ऊपरी मंजिल पर खड़ा
गोयबल्स हँसता है, / बरसता है
खून सना अंधकार।
उसके कलमनवीसों की कलमें / कागज पर सरसराती हैं
धरती पर घिसटती / कैदी के हाथ-पाँवों में
बँधी जंजीरों की तरह।"[71]

रूपक :

"संदेह करने वाले को उम्रकैद

तर्क करने वाले को फाँसी

अल्पमत पर बहुमत का धर्मराज्य

नास्तिकों को सूली

-इन सबक़ों

दैहिक-दैविक-भौतिक ताप से

पूर्ण मुक्ति।"[72]

"मैंने एक बार फिर कसम खायी

कविता में चीजों को / सीधी-सादी भाषा में बयान करने की।

हालांकि विचारों की दुनिया में / भाषा पर तमाम प्रश्न उठ चुके थे

पर लोग इनसे अनजान / नयी-नयी मशीनों पर

कारखानों में, दफ्तरों में / बदस्तूर काम कर रहे थे

और न्याय, समानता, आत्मसम्मान या क्रांति

जैसे शब्दों की अहमियत / बरक़रार थी

उनकी ज़िंदगी में पहले की तरह।"[73]

मिथक प्रयोग :

"प्रभु यीशु!

इन सात प्रेतात्माओं से मुक्ति दो / मेरा यौवन समर्पित है

तुम्हारे चरणों में / पर स्त्री हूँ

पापों का प्रायश्चित / न करूँगी

यू जीते जी न मरूँगी।"[74]

“मत जाओ गार्गी, प्रश्नों की सीमा के आगे

तुम्हारा सिर कटकर लुढ़केगा ज़मीन पर,

मत करो याज्ञवल्क्यों की अवमानना,

मत उठाओं प्रश्न ब्रह्मसत्ता पर,

वह पुरुष है! / मत तोड़ों इन नियमों को।

पुत्री बन पिता का प्यार लो / अंकशायिनी बनो

फिर कोख में धारण करो / पुरुष का अंश

मत रचो नया लोकाचार / मत जाओ प्रश्नों की सीमा से आगे।”[75]

कात्यायनी भाषा में छिपे गुह्य अर्थों को बिंबों के मार्फत ही खोलती हैं। शब्दों को गीतों में, कविताओं में या विचारात्मक निबंधों में यथोचित स्थान पर रखना और उसकी अर्थवत्ता में नवीनता उत्पन्न करना उनकी शैली व कल्पना को विशिष्ट बनाता है। कविता उनके लिए बिंबों का ही एक संसार है “मेरे लिए, कविता सर्वोपरि तौर पर, बुनियादी तौर पर, बिंबों का ही एक पूरा संसार है, उनका विधान है।”[76] स्मृतियों और कल्पना के सहारे वे कविता को सिरजती हैं। बिम्ब-विधान कविता को वस्तुगत यथार्थ के रूप में अभिव्यक्त करता है। कात्यायनी की अधिकांश कविताओं में श्रमशील आम जनता के संघर्ष का बिम्ब, पितृसत्ता-धर्मसत्ता से पीड़ित स्त्री का बिंब या सत्ता-व्यवस्था की निरंकुश-तानाशाही प्रवृत्ति का बिंब भिन्न-भिन्न स्तरों पर व्यक्त होता दिखता है। भाषा की कठोरता और कोमलता को कवयित्री व्यंग्य की कसौटी पर कसती है। पितृसत्ता के रहनुमाओं के लिए इसे समझना दुष्कर है क्योंकि यह उनके भीतर के खोखलेपन व घृणित भाव का पर्दाफाश करती है। पुरुष को लौह पुरुष की संज्ञा देना या स्त्री को कोमलांगी आदि की संज्ञा देना ही मनुष्यता से उन्हें अवहेलित करना है। स्त्री-पुरुष को इंसान के बजाय भेड़ और भेड़िया बनाना है। स्त्री को स्त्री और पुरुष को पुरुष बनाने की पारिवारिक-सामाजिक ट्रेनिंग स्त्री-पुरुष को इस कदर अनुकूलित करते हैं कि वे एक-दूसरे के खिलाफ होते

नज़र आते हैं ; श्रेष्ठता और हीनता की ग्रंथि से आसन्न! 'गोयबल्स 1994' कविता सत्ता की निरंकुश तानाशाही प्रवृत्ति के अलग तरह के बिंब को दर्शाता है। सत्ता-व्यवस्था को प्रतिरोध की आवाज हमेशा स्वयं के लिए खतरे की तरह लगती है। यह कविता लखनऊ में प्रतिरोध कर रहे संस्कृतिकर्मियों पर पुलिसिया दमन और गिरफ्तारी की घटना पर लिखी गयी थी। इसमें कवयित्री स्वयं भी शामिल थी। जेल से छूटने के बाद उन्होंने यह कविता लिखी। असत्य के बल पर न्याय को दफ़न नहीं किया जा सकता है। सत्य सत्ता की निरंकुशता को भेदकर न्याय को स्थापित करता है।

कात्यायनी की वैचारिक पक्षधरता उन सभी राजनीतिक ताकतों से लोहा लेती है जो धर्म, मजहब, भाषा, क्षेत्र, जाति, नस्ल और वर्ण आदि को आधार बनाकर अपनी राजनीति से आम लोगों को गुमराह करती है, उन्हें सांप्रदायिक बनाती है और इस खूनी खेल में अंततः असहाय आम आदमी ही मौत के घाट उतारे जाते हैं। राम-अल्लाह आदि के नाम पर राजनीति अंततः मनुष्यता को विखंडित करती है। 'नए रामराज्य का फरमान' कविता का रूपक हिंदुत्ववादी राजनीति करने वालों सत्ताधीशों-नेताओं की कुंठा और उनके अ-मनुष्यता की वृत्ति को कवयित्री ने रेखांकित किया है। वैज्ञानिक उन्नति और बौद्धिक विकास के बजाय रामराज्य का काल्पनिक हिंसक पुरुषवादी आग्रह समाज को पीछे ले जाने वाला है। वैज्ञानिक और तार्किक चिंतन ही समाज व मनुष्यता को बेहतर समाज की ओर उन्मुख करेगा।

कात्यायनी के चिंतन में मानव-समाज के इतिहास के समानांतर कविता व शब्दों या भाषा के इतिहास की गति भी गतिमान रहती है। कविता और भाषा को विभिन्न रूपकों में कवयित्री ने व्यक्त किया है। सभ्यता के विकास के साथ भाषा से शब्दों के बहिष्कृत करने या होने की स्थितियों पर कवयित्री की चिंता उनके काव्य या भाषा संबंधी चिंतन को पुष्ट करती है। मशीनीकरण के प्रभाव में न्याय, समानता, आत्मसम्मान और क्रांति के भाव को विस्मृत करता जन-समाज एक नयी औपनिवेशिक दासता का शिकार बनता जा रहा है। न्याय, समानता,

आत्मसम्मान और क्रांति आदि भाव ही मनुष्यता को संवेदनशील और समाज को सभी तरह की औपनिवेशिकता से—गुलामी से मुक्ति दिला सकता है। कात्यायनी की दर्जनों कविताओं में लुप्त होते शब्दों, नारों और क्रांति के मशालों को पुनर्जीवित करने की चाहत दिखती है।

'मग्दालिन की पहली प्राथना-कविता', 'मग्दालिन की दूसरी प्रथना-कविता', 'गार्गी' आदि कविताओं में प्रयुक्त मिथकीय भाव पौरुषिक सत्ता के क्रूरता भाव को निर्देशित करता है। कात्यायनी पौरुषपूर्ण इतिहास को 'इस पौरुषपूर्ण समय में' प्रश्नांकित करती हैं, उन पर करारा व्यंग्य करती हैं। इतिहास में जब-जब स्त्री ने अपनी बुद्धिमता से पितृसत्ता-धर्मसत्ता को चुनौती दी, तब-तब उसे अपनी जान गवानी पड़ी या उसे दैहिक-मानसिक स्तर पर कठोर यातनाएं सहनी पड़ीं। सभी स्त्री मिथकीय पात्रों की परिणति मृत्यु अथवा शीलभंग में ही होता है। गार्गी के तर्कशास्त्र ने याज्ञवल्क्य के दंभ को तोड़ा था, परिणति पितृसत्ता को अपने झूठे दंभ की रक्षा के लिए उसकी जान लेनी पड़ी। किसी भी धर्म में स्त्री की नियति उसके देह से अधिक कुछ समझा ही नहीं गया। उसे पूजनीय बनाने का लोभ भी उसकी देह-भोग वृत्ति और उसकी यौनिकता पर नियंत्रण को ही दर्शाता है। कात्यायनी की कविता ऐसे तमाम धर्मशास्त्र पर खुलकर कुठाराघात करती है। प्रतीकात्मक अर्थ में भी कवयित्री उन मिथकीय पात्रों से संवाद के बहाने अपने समय के परिप्रेक्ष्य को समझना चाहती है। स्त्री के रूप और यौवन को धर्मसत्ता-पितृसत्ता ने इतना भुनाया कि स्त्रियाँ भी उस फ्रेम में स्वयं को देखने के लिए अनुकूलित हो गयीं।

स्त्री-कविता का बिंब-विधान, रूपक प्रयोग अथवा मिथकीय कथाओं-पात्रों को कविता में लाना एक रणनीति के तहत होता है। उन सभी हाशियाकृत जीवात्माओं को पुनर्जीवित करने के लिए जिसे इतिहास में कभी सराहा नहीं गया। गगन गिल, कात्यायनी, अनामिका आदि कवयित्रियों की कविताएं एक नए सम्यक इतिहास-दृष्टि की वकालत करती है। पूँजीवादी सत्ता ने वर्तमान समाज को और भी हिंसक और मर्दवादी भाषा में स्त्री को देखने को अभ्यस्त बना दिया है। स्त्री-लेखन की सहज पुरमजाक भाषा इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। स्त्री-भाषा तड़क-

भड़क, स्त्री-पुरुष द्वेष भावना से अलग मातृमना, अहिंसक भावों से भाषा को विरेचित करती है "हम बोलती हैं एक टूटी-फूटी भाषा / और तुम्हारी प्रभावशाली भाषा ध्वस्त हो जाती है / ये नहीं सहन कर पाती हमारे दुखों का बोझ / हमारी बोली उठती है / झूठ को भेदने वाली नोक की तरह / इसमें चमकते हैं हमारे अधबने विचार / पूरे बने विचारों की दुनिया काँपती है।"[77] शुभा की इन काव्य-पंक्तियों में पितृसत्ताकीलित भाषा की फूहड़ता और मर्यादवादी सिद्धांत की सारहीनता को दिखाया गया है। यह काव्य-बिंब स्त्री-भाषा और उसके मानस को सरलता से रूपायित करता है। सहजता स्त्री-काव्यभाषा का प्राणतत्व है।

शुभा की 'नरक का द्वार', 'यह सबसे कठिन समय नहीं', 'हमें जल्दी है', 'गौरवमयी संस्कृति', 'मैं एक स्त्री हूँ', 'हम बोलती हैं' आदि कविताओं में प्रयुक्त बिंब एवं रूपक स्त्री इतिहास के बंद पड़े गवाक्षों को खोलती है, नए-नए रूपकों और कहानियों में। संस्कृति के पीछे छिपे शोषण की संस्कृति, वासना और कुंठा की संस्कृति को कवयित्री कई-कई थपकियों से बाहर लाती है। शुभा का यह बौद्धिक चिंतन जितनी वैज्ञानिक चेतना के करीब है, उतना ही स्त्रीत्व के अंतर्मन के भी। वह पुरुषवाद के बौद्धिक पाखंड और खोखले सिद्धांत के स्थान पर समतामूलक दृष्टि का संचार करना चाहती हैं। 'नरक का द्वार' कविता का रूपक पूरी मानवीय सहानुभूति की तात्विक अभिव्यक्ति है। महापुरुष, शास्त्र, पुराण, मोक्ष, ब्रह्मचर्य आदि पदबंध के पीछे के मुखौटे को कवयित्री ने जो रूपक दिया है वह उसके दोहरे चरित्र को दर्शाता है : "नरक का द्वार / जिसे बंद किया था / महापुरुषों ने / शास्त्रों, पुराणों, मोक्ष / और ब्रह्मचर्य से / खुला है / महापुरुषों ने बार-बार आग्रह किया था / इसे न छूए / अब यह खुला है / सिर्फ खुला नहीं / नरक बाहर आ रहा है / पत्थरों की तरह / ढुलकते हैं / शास्त्र और पुराण / आप्तवचन छिलकों की तरह / उड़-उड़कर धूल में गिरते हैं / न्याय का मृत मुखौटा / गिर पड़ता है मिट्टी में।"[78] पितृसत्ता की दीवारों में कवयित्री की यह सेंधमारी उस भय से मुक्ति का प्रयाण है जिसके बल पर पूरा का पूरा धर्मशास्त्र सम्पूर्ण जनमानस को अपनी जब्त में जकड़े रहता है। नरक का द्वार

खुलना पितृसत्ता रूपी धर्म की कलई खुलने जैसा है। यह आत्माभिव्यक्ति कथित समाजशास्त्र द्वारा निर्मित स्त्री के स्वतंत्र होने का आग्रह है। नारी, जिन्हें कभी 'नरक का द्वार' कहा गया था उसका प्रतिकार भी है। पॉलिटिकल को पर्सनल बनाने वाला यह काव्य-रूपक शुभा की ऐतिहासिक और राजनीतिक चेतना को भी सामने लाता है। वह रूपक इतिहास और राजनीति के पीछे छिपे पुरुष-वर्चस्व को स्पष्टता से जाहिर करता है।

सविता सिंह स्त्रीवादी कविता की परंपरा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। स्त्री की बौद्धिकता को विमर्श का रूप देती उनकी कविताएं वर्णन नहीं करतीं बल्कि उसे विमर्श के स्तर पर लाती हैं। उनकी कविताओं में स्त्री की विभिन्न कथाओं, यातनाओं का जीता-जागता रूप दिखता है। कवयित्री की दृष्टि इतनी यथार्थ-केन्द्रित है कि उसे वर्णित करने के लिए मिथकों तक का सहारा नहीं लेना पड़ता है। व्यवहारिकता के धरातल पर आम स्त्री के प्रश्नों और पितृसत्ता की जकड़न को वे कविता में संबोधित करती हैं। उनके काव्य-बिंब दार्शनिकता का रूप भी तभी लेते हैं, जब वह जीवन-दर्शन के मूल अर्थ से विलग एक नया संसार रचना चाहती है। स्त्री-जीवन के कुछ खास संदर्भों (रात, नींद, सपने, प्रेम-यातना, आत्मसम्मान, देह संबंधी नियामक आदि) को कवयित्री स्त्रीवादी दर्शन से ही आकलित करती है। स्त्री-देह और पुरुषवादी प्रेम के यातनापरक रूप को कवयित्री ने कई कविताओं में अलग-अलग रूपकों में संजोया है। स्त्री की देह और अतिशय प्रेम एक ओट है जिसके सहारे पुरुषसत्ता-धर्मसत्ता आज भी शोषण को भिन्न-भिन्न स्तरों पर करता है। कवयित्री के काव्य-बिंबों में प्रकृति के विभिन्न रूप-रंग सन्नद्ध है। वह अन्य कवयित्रियों की तरह कविता को भी एक हमनवा, हमसफर, एक प्रतिसंसार, एक आत्माभिव्यक्ति का प्रखर साधन मानती है। विश्व भर की स्त्रियों के इतिहास-वर्तमान को-उनकी पीड़ा को अपनी कविता में दर्ज़ करना चाहती है। सामाजिक दृष्टि से सविता सिंह की कविताएं एक सजग नागरिक का आत्मालोचन है। 'जब पत्ते झर रहे होते हैं', 'सपने और औरत', 'पुराना संदूक', 'अद्वितीय नाच', 'खून और खामोशी', 'मुश्ताक मियां की दौड़', 'सच्ची कविता के

लिए', 'बैठी हैं औरतें विलाप में' और 'एक दिन वह सैर पर निकली' आदि कई कविताओं के बिम्ब, दृश्य-बिंब स्त्रियों की ऐसी दुनिया है जो आम समाज विशेष रूप पुरुषों के लिए कोई मायने नहीं रखता लेकिन स्त्री-जीवन के लिए उन संदर्भों, घटनाओं, स्मृतियों और सपनों का विशेष अर्थ है। उनका विलाप भी कोरा विलाप नहीं होता है बल्कि वह सभ्यता से अपनी निजता से बिछड़ने का विलाप होता है :

"बैठी हैं एक साथ / गठरी बन / बिसूरती
रोती विलाप करती स्त्रियाँ
करतीं शापित पूरे इतिहास को
जिनमें उनके लिए अंधकार का मरुस्थल बिछा है"[79]

और

"जिस्म पर इतने ज़ख़्म
मन पर उससे भी ज्यादा
देश के मानचित्र पर और भी ज्यादा
एक तरफ ढेर जाली लाशों का / एक तरफ टंगा हुआ
पेट चीरकर मारा गया अजन्मा बच्चा"[80]

इस घोर अमानुषिकता के दौर में कल्पना की उड़ान कवयित्री के लिए असह्य है। ऐसे दर्जनों बिंब हैं जिनसे कवयित्री का साबका हर रोज होता है। अपने आसपास की स्त्रियाँ हों या विश्व के किसी कोने में बैठी पीड़ित स्त्रियाँ, सबकी कथा को कवयित्री अपनी अंतर्कथा बनाती है। देह के जंजालों से मुक्ति हो या लैंगिक पूर्वग्रहों से आजादी, सभी स्तरों पर कवयित्री की चिंता समाज की आम स्त्री पर टिकी रहती है। परिवार, समाज, राज्य, धर्म आदि संस्थाएं प्रश्नकीलित होती है। दलित-आदिवासी अथवा आर्थिक रूप से विपन्न स्थितियों में भी स्त्रियों को दोहरे शोषण का शिकार होना पड़ता है। आर्थिक रूप से सम्पन्न स्त्रियाँ भी परंपरा और पितृसत्ता के

दबाव में पुरुषवादी आचरण का निर्वाह करती हैं। सविता सिंह की काव्य-दृष्टि इन सामान्य लगने वाले कार्य-व्यापारों को जिन रूपकों में अभिव्यक्त करती है, वह संप्रेषणीय होने के साथ ही साधारणीकृत भी होती जाती है। उनकी स्त्री-दृष्टि ही राष्ट्र अथवा देश की संकल्पनाओं को जाहिर करती है। 'जहाँ मेरा देश था', 'अद्वितीय नाच', 'मनोकामनाओं जैसी स्त्री', 'सच का दर्पण', 'निजी कोना', 'स्त्री सच है', 'थका बैंगनी फूल', 'सफेद तितली', 'याद रखना नीता', 'कितनी ही बार' आदि कविताओं में स्त्री-जीवन की विभिन्न मनःस्थितियों को रूपक का रूप दिया गया है। कवयित्री बेहद संवेदनशील होकर इन जीवन-संदर्भों या प्रसंगों को सार्वजनिकता का जामा पहनाती है :

"कुछ दिनों पहले जहाँ एक राह थी
अब वहाँ एक दीवार है / थीं जहाँ हमारी इच्छाएं वहाँ लालच है सिर्फ
कामना थी जहाँ लहराती वासना है
जहाँ खुशी थी दुख की गझिन छाया है
जहाँ सारा साहस था वहाँ गज़ब की लाचारी है
जहाँ मेरा देश था अब वहाँ एक बाजार है"[81]

<u>या</u>

"उसके पाँवों में गिलट की सुंदर बेड़ियाँ थीं
कमर में कमरबंद / हाथ गोदनों से मढ़े हुए थे
एक तरफ से फटे ब्लाउज से उसका थका बदन झाँक रहा था
खुले उलझे हुए बाल महीनों से ज्यों संवारे न गये हों
उसके चेहरे को यूं ढँके मानो
कंटीली किसी झाड़ी से झाँकता कोई जंगली फूल"[82]

कविता में इन रूपकों का प्रयोग कई अर्थों को ध्वनित करता है। संदर्भ सामाजिक-राजनीतिक हो या आर्थिक अथवा राष्ट्रप्रेम कवयित्री की दृष्टि सामंजस्यवादी रही है। राष्ट्रप्रेम के झोंके में स्त्री-संवेदना की अवहेलना आदि आजादी का द्योतक है। स्त्री-जीवन के संदर्भ को उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता को शामिल करना अनिवार्य है। पारिवारिक स्तर पर स्त्री-शोषण के जितने रूपक और बिंब हो सकते हैं, सविता सिंह के यहाँ प्रायः मौजूद हैं। ऐसी कविताओं की एक लंबी शृंखला जिसमें स्त्री को पारिवारिक यातनाएं सहने के लिए अनुकूलित किया जाता है या वो सहने के लिए अभिशप्त हैं ; मुक्ति की आकांक्षा या चेतना अभी उनसे कोसों दूर है। देश में बढ़ते पितृसत्तात्मक पूँजीवादी तंत्र ने इन यातनाओं को और प्रश्रय दिया है। बाजार और टेलीविज़न जगत ने स्त्री-अधिकार का झूठा षड्यंत्र रचकर स्त्री की देह को, उनकी यौन इयत्ता को वस्तुकरण में तब्दील कर दिया। फैशन जगत में फंसी स्त्री इस पुरुषवादी अर्थनीति को समझने में नाकाम रही। विश्व भर की स्त्री-चिंतक आज बाजार की भोगवाद-स्वार्थलिप्सा और लोभनीति का विरोध कर रही हैं। वह स्त्री को पर्दे पर महज सेक्स आइकॉन बनाने के सख़्त खिलाफ हैं। बाजार को देश का पर्याय मानना उस भीषणता का संकेत है जिसमें मानव-सभ्यता बाजार के दबाव में बौद्धिक रूप से अपंग हो जाएगा। 'थका बैंगनी फूल' कविता की श्रमशील स्त्री निराला की तोड़ती पत्थर की तरह 'श्याम तन पर बंधा यौवन' भी नहीं है। वह थकी-हारी कवयित्री के शब्दों में 'जंगली फूल' की तरह है जिसके भीतर जीवटता और जिजीविषा अब भी मौजूद है। फटे-पुराने कपड़ों में भी वह अपने आत्मसम्मान और स्वाभिमान से समझौता नहीं करने वाली है। श्रमशील जनता की यह सबसे बड़ी ताकत है कि वह भूखे रहकर भी अपने स्वाभिमान-आत्मसम्मान को गिरवी नहीं रखता। सविता सिंह की यह साधारण स्त्री असाधारण मानवीय मूल्यों की प्रतिमूर्ति है जो महज अपने जीवन से - जिजीविषावृत्ति से दर्शन के सिद्धांतों को उलट-पुलट कर रख देती है। यही कारण भी है कि कवयित्री स्त्री-जीवन से जुड़े संदर्भों को दार्शनिकता के स्तर तक ले जाती है। दर्शन और प्रकृति के विभिन्न रंग सविता के यहाँ घुलमिल जाते हैं।

स्त्रीवाद की प्रखर हस्ताक्षर रंजना जायसवाल की कविताओं में भी जिन बिंबों-रूपकों और मिथकों का प्रयोग होता है, उनमें प्रकृति की मौजूदगी बनी रहती है। कृषि प्रेमी की भाँति कवयित्री प्रकृति के प्रत्येक रूप, रस, गंध और ऋतुओं को मानवी रूप देती है। रंजना की कविता का एक दूसरा छोर है जहाँ निरा पितृसत्ता की जंजाल में फंसी स्त्री की राजनीति, भूख-संत्रास, बाजारवादी अर्थनीति, गरीबी-अमीरी, स्त्री-पुरुष के मधुर कर्कश संबंधों आदि सभी संदर्भों को कम से कम शब्दों में कविता में निरूपित करती है। उनकी कविताओं में प्रेम की अल्हड़ता जितनी मासूमियत लिए होती है, प्रकृति की हरीतिमा भी उतनी ही रंग बिखेरती है। समाज-राजनीति की स्त्री विरोधी भाषा, कूटनीतिक चालें और दैहिक-मानसिक हिंसा पर कवयित्री की कलम जितनी सख्त है वैसे ही देश को पूँजीवादी तंत्र के हाथों कठपुतली बनाने पर भी! स्त्री-पुरुष संबंधों में मानवीय संवेदनशीलता के बजाय असमानता को देख कर कवयित्री पितृसत्तात्मक व्यवस्था की कड़ी आलोचना करती दिखती है। कविता में रंजना स्त्री के लिए जिन बिंबों-रूपकों का प्रयोग करती हैं, उसमें केवल स्त्री ही नहीं पूरा संसार, पूरा वातावरण निर्मित होते दिखता है अगर कहीं उस संसार में मलिनता है तो उससे छुटकारा पाने की बाल सुलभ युक्तियाँ भी हैं। कविता में भावुकता के ऐसे कई दृश्य हैं जिनमें कवयित्री के आस्थागत मूल्य समाहित हैं। यह आस्थागत मूल्य प्रेम है जिसे कवयित्री अंत समय तक पकड़े रहती है। पौरुषिक दुरूहता-कटुता के बरअक्स कवयित्री का प्रेम-राग मनुष्यता को प्रेम-विमुख होने से बचाता है। पुरुषत्व का मोह भी स्त्रियों को स्वीकार नहीं, क्योंकि उसकी नियति मिटने की होती है। स्त्री की आज़ादी ही पुरुषत्व की आधारशिला को झकझोरती है इसलिए पितृसत्ता उसके लिए भय का एक मजबूत संजाल रचता है : "रिक्तता भरने के लिए / तुमने चुनी स्त्री / और भयभीत हो गये / तुमने बनाए / चीकें... किवाड़... परदे / फिर भी तुम्हारा डर नहीं गया / तुमने ईज़ाद किये / तीज-व्रत, पूजा-पाठ / नाना आडम्बर / मगर डर नहीं गया / तुमने तब्दील कर दिए उसे / गूँगी मशीन में / लेकिन संदेह नहीं गया / जब भी देखते हो तुम / खुली खिड़की या

झरोखा / लगवा देते हो नयी चीकें / नए किवाड़-नए परदे / ताकि आज़ादी की हवा में / खुद को पहचान न ले स्त्री"[83] और प्रेम की अनंत आस लिए भी कवयित्री प्रेम-विमुख होने की कल्पना नहीं कर पाती "मैं लिखती रही / धरती / आकाश / हवा / पानी / आग / सब पर / तुम्हारा नाम / और तुम / मिटाते रहे / मिटाते रहे / मिटाते रहे..."[84] छोटी-छोटी कविताओं में सैकड़ों दृश्य-बिंब हैं जो कवयित्री की सचेतनता को एक सार्थक दिशा देते हैं। इन बिंबों में मनुष्य, पशु-पक्षी, खेत-खलिहान, पेड़-पौधे आदि सभी आपसी संवाद में कवयित्री के साथ आत्मीय सदस्य की तरह बने रहते हैं। प्रेम में कवयित्री हर बार नयी होती दिखती है। प्रेम की मांसलता भी उनकी बाल-सुलभ वृत्ति को ही उद्घाटित करती है। पौरुषिक अनाचार को प्रेमपरक दृष्टि से ही बदलने का प्रयत्न करती है। रंजना की काव्य-बिंबों की सबसे बड़ी विशेषता है मूक वस्तु विन्यासों को मानवीय संवेदना से लबरेज करना। पेड़-पौधे-फूल-फल-सब्जियां, जल-जंगल, नदी-पहाड़ आदि सबको कवयित्री जैसे वाणी दे रही होती है। यह संयोजन कवयित्री की उदारता और प्रेम-विह्वल हृदय की पहचान है।

रंजना जायसवाल की 'नदी-1,2', 'प्रेम का बिरवा', 'चिड़िया तुम', 'चिटियाँ', 'अलाव जलाओ', 'नारीवादी हो रही है गौरी', 'किससे मुक्त होना है मुझे', 'रंडी', 'भूखा बच्चा', 'मैं देवी नहीं हूँ' आदि कविताओं में प्रयुक्त रूपकों का प्रयोग अति साधारण है। स्त्री की त्याग-वृत्ति को न समझना समाज के लिए सामान्य ही है। वह 'देवी', 'ईश्वर' आदि बनाकर भी उसी के साथ हैवानियत करते आया है। बेटी को बोझ समझने वाला और गर्भ में भ्रूण हत्या करने वाला समाज आज भी स्त्री के प्रति असंवेदनशील है। स्त्री की यौनिकता केन्द्रित गालियों का प्रचलन हो या चरित्र हनन आदि ; आज भी किसी स्त्री या पुरुष की जुबान पर शीघ्र ही बैठ जाता है। 'नारीवादी हो रही है गौरी' कविता में कवयित्री माता कही जाने वाली गाय का रूपक लिया है। 'माता' कहकर भी दूध, संतान, गोबर, मूत्र, मांस, चमड़ा आदि तक व्यापार करने वाले नेमी-धरमी लोग संबंधों के प्रति कितने मतांध हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

कवयित्री इन प्रतीकों पर बार-बार प्रहार करती है "दुर्गम यात्राओं का / कष्ट-सुख / जानती है नदी / नहीं जानता / समुद्र..."[85] या "गेहूँ की तरह / उगाई जाती है / काटी जाती है / पीसी जाती है / बेली जाती है / सेकी जाती है / और तीन-चार / निवालों में ही / निगल ली जाती है... / स्त्री।"[86] स्त्री-जीवन की इस नियति और नियत के खिलाफ ही कवयित्री न्याय की मांग करती है। बाजार, टेलीविज़न जगत ने स्त्री की दुनिया में जो परिवर्तन किये वे जितने साधक हुए उतने ही उसकी लामबंदी एक सीमित दायरे में कर दी गयी। कवयित्री की चिंता बाजारवादी तंत्र में स्त्री के वस्तुकरण पर जितनी है, उतनी ही भूख-प्यास से बिलख रहे गरीब आमजन के लिए भी है। एक भूखा गरीब बच्चा अपने स्वप्न में भी रोटी के पेड़ ही देखता है "भूखा बच्चा / सपने में / लगाता है / सड़क के दोनों ओर / रोटी के पेड़।"[87] यह बिंब जितना मार्मिक है उतना ही सत्ता-व्यवस्था की बदहाली को दर्शाता है।

स्त्री-कविता निरंतर एक नयी दुनिया और एक नयी स्त्री का निर्माण पूरी बौद्धिक क्षमता से करती है। यह नयी स्त्री सामाजिक-राजनैतिक-धार्मिक आदि पूर्वग्रहों से मुक्त एक मानवी रूप में प्रतिष्ठित होती है। यह मानवी रूप ही समाज में स्त्री के प्रति एक नया वातावरण रचता है। स्त्री-कवियों ने जैसे भाषा-शिल्प-शैली की नवीनता के साथ स्वयं को अभिव्यक्त किया है, बिंबों, रूपकों, मिथकों और प्रतीकों को अलग-अलग भाष्य दिए, कविता का दायरा बढ़ता गया। सहजता और नवीन सौंदर्यबोध उसके प्राण बने। सामाजिकता, सामूहिकता नए अर्थों में खुलने लगी ; पर्सनल पॉलिटिकल बना और पॉलिटिकल पर्सनल, लोकल ग्लोबल बना और ग्लोबल लोकल। इन सभी स्थितियों में स्त्री-कविता को जो सबसे अधिक खास बनाता है वह है उसकी स्त्री-दृष्टि का पाठ। जैसे नज़र बदलने से नजारे बदल जाते हैं, ठीक उसी तरह एक नयी दृष्टि पूरी दुनिया की उल्टी तस्वीर को सीधी कर उसे अधिक स्पष्ट और पारदर्शी बना देती है।

समकालीन स्त्री-कवियों ने स्त्री-कविता के कैनन को विस्तृत रूप दिया उनमें अनामिका, कात्यायनी, गगन गिल, सविता सिंह, रंजना जायसवाल के साथ नीलेश रघुवंशी, अनीता वर्मा,

शुभा, निर्मला पुतुल आदि की अहम भूमिका है। इन कवयित्रियों ने स्त्रीत्व की परिधि में समस्त संसार और सभी वर्गों को समाहित किया और एक सुंदर दुनिया का स्वप्न दिखाया। यह सुंदर दुनिया मानवीय संघर्ष और समानता के मूल्यों के साथ साझापन में ही संभव है ; वैज्ञानिक चेतना जिसकी मूल इकाई हो। अंध-आस्था के बजाय तर्क-वितर्क, बहस, सवाल-जवाब और लोकतांत्रिक मूल्यों का संघटन अनिवार्य रूप से जनतंत्र के आधार को मजबूत करें। स्त्री-लेखन इन सवालों से बार-बार टकराता है और हर बार उन्हें अपनी बौद्धिकता-तार्किकता से स्वयं को स्थापित करना होता है क्योंकि पितृसत्ता के घोषित सिद्धांत यहाँ बिखरने लगते हैं। स्त्री-कवियों में नीलेश की कविता ऐसे ही जनतांत्रिक मूल्यों के विघटन होने और उसे बचाने की पहल है। एक स्त्री की जनतंत्र के प्रति सोच इसलिए भी मायने रखता है क्योंकि वह अब भी संवैधानिक अधिकारों से वंचित दास का जीवन बिता रही है। विगत कुछ वर्षों में जरूर परिवर्तन हुए हैं पर वह पर्याप्त नहीं।

नीलेश रघुवंशी की कविता जनतंत्र के वातावरण में स्त्री-पुरुष, किसान-व्यापारी, मजदूर-नौकरीशुदा लोग और यत्र-तत्र श्रम करती महिलाओं की स्थितियों को कवयित्री ने प्रस्तुति हेतु जिन बिंबों, रूपकों व प्रतीकों का सहारा लिया है, वह भाषा के स्तर पर अत्यंत प्रभावी है। मुहावरे, लोकोक्तियों को नवीन अर्थ देने और नवीन मुहावरे गढ़ने में भी कवयित्री सिद्धहस्त है : "नए साल के आगमन पर पूछा गया सिंघाड़े बेचने वाली से / नए साल के बारे में क्या सोचा है तुमने / सिंघाड़े बेचती स्त्री ने कहा / नए साल में खुट जाएँ / खुट जाएँ मतलब... / खुट जाएँ यानी हम मर जाएँ / ही ही हा हा ही हा / अरे अरे ए ऐसा नहीं कहते / हँसी ठसक से सिंघाड़े वाली, मुश्किल से जबरिया हँसी रोकती बोली / क्यों खूँटने से डरते हो? / हम तो रोज खूँटते हैं..."[88] ऐसे अनेक काव्य-बिंब नीलेश की कविता और उनकी पक्षधरता को प्रामाणिक बनाता है। आमजन की बदहाल स्थिति, लोक-संवेदना की जीवटता को कवयित्री भलीभाँति समझती है। हँसी-हँसी में कही गयी सिंघारे बेचने वाली स्त्री की बातें बदहाल आम गरीब जनता का

स्थायी भाव हैं और इस बदहाली में स्वयं को जीवंत बनाए रखने का निर्द्वंद्व स्वाभिमान भी! वर्ग-वैषम्य कहें या अनिर्णीत की विफलता कि अमीरी-गरीबी की खाई बढ़ती गयी और आमजन इसके शिकार होते गये। नीलेश की ऐसी दर्जनों कविताएं हैं जिसमें ऐसे ब्यौरे भरे पड़े हैं। वह तटस्थ भाव से व्यवस्था से पीड़ित पंक्ति में खड़े अंतिम जन की बात बिना किसी मुलम्मा चढ़ाए कहती रही हैं। निम्नवर्ग में सामाजिक-राजनैतिक चेतना का अभाव उन्हें वह भाषा नहीं दे पाती जिससे वे अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ सकें लेकिन यह बोध जरूर होता है कि उनके साथ अन्याय हो रहा है और वह अन्याय ही उनकी जुबान में आक्रोश बनकर फूटता है। नीलेश ने उक्त कविता में जितनी सहजता से वर्ग-विषमता के बिंब को उभारा है, वह सहजता उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है। स्त्री-कविता की परंपरा में यह जनसाधारण का प्रतिनिधित्व ही बड़ी उपलब्धि है। कवयित्री बिंब के समानांतर ही रूपकों के प्रयोग में भी ऐसी विलक्षणता का परिचय देती है। 'बेखटके', 'टेलीफोन पर पिता की आवाज़', 'कविता लिखने वाली लड़की', 'स्त्री की नींद', 'सपनों का उच्चारण', 'विज्ञापन में किसान', 'गैस त्रासदी', 'दिखते हैं अब', 'लोकतंत्र का तनशाह', 'आज की रात' आदि कविताओं के रूपक एक फिल्म की भाँति अंतराल-दर-अंतराल चलती दिखती है। जीते-जागते, मरते-खपते, जूझते-खटते लोगों का आर्तभाव इन काव्य-रूपकों में दर्ज हुआ है। धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा, नस्ल, वर्ण आदि को लेकर घृणित राजनीति करने वाले हों या किसान को विज्ञापन में खुशी जाहिर करते तस्वीर का मिथ्याभाव या धार्मिक उन्माद द्वारा किसी की हत्या, आदि सभी स्थानों पर मनुष्यता तार-तार होती है। मौजूदा समय हिंसक वृत्तियों को राजनीतिक संरक्षण देने का समय है जिसमें अनुचित भी उचित की भाषा बोलता किसी को भी अपना शिकार बना सकता है : "बदल रहा है समय धीरे-धीरे त्रासदी में / हमारे समय का महनायक कौन / जो इमारतें ढह गईं वो या / धर्मध्वजी जेहादी? जानें लीं जिन्होंने अनगिनत निर्दोषों की / क्या आज की रात / एक ध्रुवीय शक्ति-व्यवस्था के अंत की रात है / या यह रात है - / उसके और-और मजबूत होने की / अनगिनत

काले साँपों से घिरी।"[89] यह अपने समसामयिक ज्वलंत त्रासदीपूर्ण समय की शिनाख़्त है। भयाक्रांत मौजूदा दौर इन घटनाओं का साक्षी है। इस अंधेरे गर्द रात की सुबह कब होगी किसी को पता नहीं। कवयित्री की चिंता बढ़ते अपराधतंत्र और फासीवादी शक्तियों के उभार के बीच आमजन की सुरक्षा की है। इन त्रासद घटनाओं में मौत के घाट उतार दिए गए निर्दोष लोगों की अंतहीन पीड़ा से है जो वापस कभी नहीं लौट सकते हैं। 'आज की रात' की ये पंक्तियाँ उस रूपक को सामने लाती हैं जिसके भय से पल-पल आम जनता गुजर रही है। बढ़ते आतंकवाद, धार्मिक उन्माद, राजनीति की नृशंसता, परमाणु हथियारों के विस्फोट तथा रासायनिक वायरस आदि का भयानक वैश्विक जंजाल दुनिया को तबाह करने के लिए काफी है। सर्वशक्तिमान बनने की फूहड़ता अंततः मानव-सभ्यता को लील जाएगी। नीलेश की यह राजनीतिक चेतना आम जनता के शोषण के दंश से उत्पन्न चेतना है जो किसी विचारधारा के तले नहीं पहचानी जा सकती है। अंततः वह मनुष्यता को बचाने की लालसा लिए इस त्रासद समय से लड़ना चाहती है। नयी सदी में नयी चुनौतियों से जूझती कवयित्री उसी से नयी संभावनाओं की तलाश में लगी है। दुनिया को सुंदर बनाने का स्वप्न इन्हीं संभावनाओं से संभव है।

अनीता वर्मा की काव्य-यात्रा बिंबों की यात्रा है। 'एक जन्म में सब' और 'रोशनी के रास्ते पर' संग्रह की कविताएं बिंबों-रूपकों का भरा-पूरा संसार है। अपनी सघन संवेदना और दृष्टि की नवीनता के कारण उनकी कविताओं को अलग से पहचाना गया। कवयित्री अपनी कविताओं में वस्तु-विन्यास के स्तर पर परिवार-समाज और प्रकृति के अदीखे तथ्य व उसकी मार्मिकता को शब्द रूप देती है। बाजारवादी तंत्र और पूँजीवादी व्यवस्था के गुलाम हो चुके जन-समाज का चित्र उनकी कविताओं में अर्थ-गांभीर्य के साथ मौजूद है। स्त्री के अंतरंग-बहिरंग भावों को, उनके आत्मानुभूतित यथार्थ को कवयित्री ने जैसे 'स्थिर बिंब' में तब्दील किया है। यह स्थिरता जड़ता नहीं है बल्कि आत्ममंथन हेतु स्थायित्व का भाव है। उनकी सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि भी समाज सापेक्ष है। मानवीय गुणों-अवगुणों और रहस्यों आदि को उद्घाटित

करते हुए उनकी कविताएं पंक्ति-दर-पंक्ति जिस बिंब का निर्माण करती हैं वह अंत में पूर्णतः मूर्त रूप लेता है। यह मूर्तिकरण या चित्रमयता विशुद्ध रूप से कवयित्री के अनुभव संसार का हिस्सा है। परिवार-समाज और राष्ट्र में चल रही अंतर्कथाओं की भीषणता में स्त्री की नियति क्या हो? इसका जवाब कवयित्री का कवि-मन बार-बार देता है। उनकी अधिकांश कविताओं में स्त्री-देह की मनोग्रंथियाँ, बाजार, विज्ञापन और पितृसत्तात्मक दलीलों आदि को मनोवैज्ञानिक स्तर पर विश्लेषित किया गया है। 'सभागार में', 'स्त्री का चेहरा', 'मैं खोजती हूँ', 'दर्द', 'स्थिर बिंब' आदि कविताओं के बिंब और 'खुशी के रहस्य', 'बाजार', 'अपना पेड़', 'उदासी', 'खोज' तथा 'निर्णायक' आदि कविताओं में जिन रूपकों का प्रयोग हुआ है, वह हमारे समय का प्रतिबिंब है। इन कविताओं में प्रश्नाकुलता के साथ मनोवैज्ञानिक ऐन्द्रिय-बोध को जाना जा सकता है। यथा :

बिंब :

"इस चेहरे पर जीवन भर की कमाई दिखती है
पहले दुख की एक परत
फिर एक परत प्रसन्नता की
सहनशीलता की एक और परत
एक परत सुंदरता
कितनी किताबें यहाँ इकट्ठा हैं
दुनिया को बेहतर बनाने का इरादा
और खुशी को बचा लेने की ज़िद"[90]

रूपक :

“वे हमारे दिमाग पढ़ते हैं / अपने-अपने आईने में
आसान भाषा में बताते हैं / खुशी के रहस्य
स्त्रियाँ पेश करती हैं / सपनों की एक टोकरी
जिसके सभी फल हमेशा से मीठे होते हैं
उनमें से उठाया जा सकता है कोई एक
निचोड़ा जा सकता है हृदय की तरह
मनुष्य उन्हीं विचारों पर चलता है
जो बना दिए गए हैं मनपसंद
तुम खाने लगते हो सबकी पसंद का खाना
पहनते हो कपड़े दूसरों की रुचि के
बाहर आता है किसी दूसरे का चेहरा
घरों में किसी और के बेचे जाने की चीजें सजती हैं
किसी और के सपने आते हैं नींद में।”[91]

‘स्त्री का चेहरा’ का बिंब और ‘खुशी के रहस्य’ का रूपक दोनों ही कविताओं में मंथर गति का संवाद है जो अपनी गतिशीलता में समय से संवाद करती प्रतीत होती है। मनुष्य की मौलिकता छीन कर उसे रोबोटिक बनाने की चिंता का संवाद। चेहरे के भीतर कई चेहरे देखने और पहचानने की कला कवयित्री को मालूम है। वे जानती है कि ये ‘खुशी के रहस्य’ का बीज कैसे मानव-मस्तिष्क में बोया जा रहा है। बाजार-मीडिया-विज्ञापन और टेलीविज़न जगत ने ऐसा भ्रमजाल फैलाया है जिससे बचना मुश्किल है। चकाचौंध की लालच और ब्रांडधर्मिता ने स्त्री-देह के जरिए पूरी मानव जाति को अपनी गिरफ्त में ले रखा है। अनीता वर्मा उन बिन्दुओं पर भी हाथ रखती हैं, जहाँ इस भीड़तंत्र में स्त्री स्वयं भी पितृसत्तात्मक बाजार तंत्र में अपनी देह का इस्तेमाल करने से पीछे नहीं हटती। ऐसी सूरत में अपनी पहचान खोकर चंद समय के लिए वह

भले ग्लैमर वर्ल्ड का हिस्सा बन जाए लेकिन उसकी परिणति अंततः देह में होती है क्योंकि बाजार और विज्ञापन जगत को हर बार एक नयी देहयष्टि की तलाश होती है।

अनीता वर्मा की कविताओं में अनोखे दृश्य-बिंब जीवनबोध से निर्मित होते हैं। उनकी काव्य-संवेदना के दायरे में जितनी प्रमुखता स्त्री के अंतर्मन के संघर्ष की है। बाजार और पितृसत्तात्मक पूँजीवादी तंत्र में नष्ट होते जीवन का रूपक उतनी ही घनिष्ठता उन्हें समाज से उपेक्षित वेश्याओं के लिए भी है जिनके लिए वे कभी इस शब्द का प्रयोग तक नहीं करती। यह शालीनता और आंतरिक जुड़ाव ही उनकी कविताओं को नया अर्थ देता है। 'बूढ़ा नाथ की औरतें' कविता में कवयित्री जिस व्यंग्य भाव से स्त्री की रक्षा करने वाले धर्मशास्त्र पर कटाक्ष करती है उसमें उनके आक्रोश को देखा जा सकता है। देह-व्यापार स्त्री संवर्ग की एक कारुणिक त्रासदी है। सदियों से चला आ रहा यह व्यापार आज भी फलफूल रहा है जिसकी जद में छोटे-बड़े शहरों के सैकड़ों युवतियाँ, किशोरियों, बच्चियों को प्रत्येक वर्ष लिया जाता है। आज भी कोई सरकारी या गैरसरकारी व्यवस्था इस पर प्रतिबंध लगाने की बात नहीं कहती। इस व्यापार का उत्कर्ष बताता है कि पुरुष समाज आज भी कितना हिंसक और दानवी रूप लिए घूम रहा है। स्त्रीवादी विमर्श इन दिशाओं में जरूर प्रयत्नशील है। कवयित्री का यह मननशील भाव उस समाज की बदहाली की ओर संकेत जरूर करता है।

स्त्री-कविता की परंपरा में यथार्थवादी बिंबों-रूपकों का सबसे अधिक प्रयोग दलित और आदिवासी स्त्री-कवियों ने किया है। उनकी भाषा की सपाटता या अनगढ़ता में ही एक नया लोकानुभव उभरकर आता है। रजनी तिलक या सुशीला टाकभौरे की कविताएं सीधी-सरल भाषा का अनुगमन करती हैं। अपने मुहल्ले, कस्बों, बाज़ारों और घर के भीतर के अनुभवों की बुनावट उनकी कविताओं को कभी-कभी घटना प्रधान बनाती है तो कभी उसे हृदय की पीड़ा की अभिव्यक्ति के रूप में सँजोती है। रजनी तिलक का चिंतन, काव्य-रचना और सामाजिक कार्यकर्ता का भाव सब एकमेक है। कहीं कोई अंतर नहीं। जो जुबान पर है वही कविता में है

और जो कविता में है वही जीवन वह पल-पल जीती भी हैं। सामाजिक न्याय के पक्ष में, दलित स्त्री के आत्म-स्वाभिमान के लिए वे निरंतर संघर्षरत रहीं। कविता में भी और समाज में भी। रजनी तिलक की कविता सामाजिक फटकार की कविता है। उनकी 'जीरो हूँ', 'बलात्कार', 'भंगिन', 'औरत', 'सांकल', 'वेश्या', 'योनि है क्या औरत' आदि कविताओं के बिंब हृदय को भेदने वाले बिंब हैं। 'जीरो हूँ' कविता में 'जीरो' के बिंब को स्वयं के लिए प्रयुक्त करना परिवर्तनकामी चेतना को संचारित करना है। उन सभी स्त्रियों के लिए जिसे पूरा समाज जीरो अर्थात बेकार समझता है लेकिन कवयित्री उस जीरो के मूल अर्थ और ताकत को बताते हुए उसका स्थान निर्धारित करती है "मैं जीरो हूँ / जीरो से संख्या में बदल सकती हूँ / और अपना स्थान रखती हूँ ..."[92] स्थान पाने और स्थान रखने की जद्दोजहद का ही नाम है रजनी तिलक।

मानवाधिकार आंदोलन और महिला आंदोलन के अनुभवों ने उनके लेखन और समझ को और भी विस्तृत रूप दिया। दलित पुरुष लेखकों की दोहरी मानसिकता व व्यवहार पर उनका करारा प्रहार रहता है। दलित समाज का उत्थान ; उनमें शैक्षिक, सांस्कृतिक जागरण के उन्मेष हेतु कवयित्री सदैव प्रयत्नशील है। उनकी भाषा की साधारणता ही उनकी विचारधारा की नींव है। कविता में बिंबों, रूपकों, मिथकों आदि पर उनका ध्यान कम ही रहता है फिर भी जिन कविताओं में इनका प्रयोग हुआ है वह बेहद सहज और स्पृहणीय है। उनकी 'भ्रूण', 'फर्क', 'कौन नाच रहा है', 'मेरे भाई', 'अनकही कहानियाँ', 'औरत-औरत में अंतर', 'अर्धांगनी नहीं पूरा शरीर हूँ' आदि कविताओं में प्रयुक्त रूपक अपनी सरलता में सामाजिक अंतर्विरोधों को सामने लाता है। 'भ्रूण' और 'औरत-औरत में अंतर' कविता एकबारगी उस द्वंद्व भाव को स्पष्ट करता है जो वर्गीय चेतना को सिद्धांतों में गढ़कर उसे उबाऊ और जंजाल बना देते हैं। जातीय उत्पीड़न और असमानता को बढ़ाने वाले मिथकीय चरित्रों, ग्रन्थों आदि को नकारते हुए अपने समाज के हाथों में 'शिक्षा का परचम' देने वाली कवयित्री दलित समाज की चेतना में बुद्ध, अम्बेडकर, ज्योतिबा-साबित्री बाई फुले आदि की विचारधारा को संचालित करना चाहती है।

कानून और समाजशास्त्र पढ़ने की सलाह उसी चेतना को निर्मित करने का हिस्सा है। दलित स्त्री अपना उत्थान शिक्षा द्वारा ही कर सकती है। इसलिए शिक्षा कवयित्री के लिए समाज का अनिवार्य अंग है। सुविधाभोगी समाज से आस लगाने की तुलना में संघर्ष का बीज बोना अधिक श्रेयस्कर है। समाज में विषमता की खाई को पाटने के लिए हर स्तर पर अपनी भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी तभी बेहतर समाज की परिकल्पना पूर्ण होगी।

आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल का काव्य-संसार बिंब-रूपक प्रयोग की दृष्टि से अधुनातन है। आदिवासी जन-समाज और संस्कृति के प्रतीक-चिन्हों, भाषा के अलग चटक रंग के साथ कवयित्री आदिवासियत को कविता में रचती है। सामाजिक कार्यकर्ता होने के कारण उनकी कविताओं की भाषा-शैली बोलचाल की शैली है। आदिवासी स्त्री-अस्मिता के प्रश्नों, उनके दैहिक-मानसिक शोषण के अनुभवों को वह दृश्य-बिंबों के सहारे सहजता से रूपायित करती है। उनकी कविताओं में आदिवासियत और जल-जंगल-जमीन की पूरी अंतर्कथा व्याप्त है। अपनी सांस्कृतिक चेतना के दूत बिरसा, सिदो-कानू आदि से प्रेरणा लेते हुए अपने समाज की उदासीनता को कवयित्री दूर करना चाहती है। सिद्धांत और व्यवहार, विकास और विनाश की बारीकियों को आदिवासी स्त्री-कविता के बिंब प्रयोग से समझा जा सकता है। सत्ता की राजनीति, पुलिसिया तंत्र ने आदिवासी इलाकों को जैसे जंग का मैदान बना रखा है। दहशत और अंधेरगर्दी के वातावरण में यौन-हिंसा, हत्या, बलात्कार, आर्थिक शोषण आदि आम होते जा रहा है। सामाजिक-राजनीतिक अन्याय के खिलाफ कवयित्री एकजुटता और अपने इतिहास के गौरव को सामने रखती है ताकि वह इस भीषण नरभक्षी सत्तालोलुप व्यवस्था के खिलाफ खड़ी हो सके। 'सबसे डरावनी रात', 'अपने घर की तलाश में', 'तुम कहाँ हो', 'गजरा बेचने वाली स्त्री', 'स्त्रियाँ लिखेंगी अपना इतिहास', 'तुम्हारा एहसान लेने से पहले सोचना पड़ेगा हमें', 'मैं चाहती हूँ', 'खून को पानी कैसे लिख दूँ', 'चुड़का सोरेन से' आदि कविताओं में

आदिवासी जगत की चिंता और चुनौतियों को विभिन्न बिंबों, रूपकों व प्रतीकों में संजोया गया है।

प्रतिरोध की संस्कृति में निर्मला पुतुल की कविताएं मील के पत्थर सदृश हैं जो अपने समाज के साथ-साथ मानवता का नया पाठ पढ़ाती हैं। आदिवासी समाज में होने वाले दिन-प्रतिदिन स्त्रियों के साथ यौन हिंसा एक ऐसी पीड़ा है जिसे सुन आत्मा जार-जार रोती है। इस हिंसा में शामिल बाहर और भीतर दोनों ही तरफ के पुरुष समुदाय हैं। इस भयावहता से त्राण पाना मुश्किल है क्योंकि आदिवासी स्त्रियों के लिए वहाँ से निकलने का कोई स्थान नहीं बचता। हर रात उनके लिए एक दहशत भरी रात होती है "कैसे भूल जाऊँ वह राक्षसी रात / जिसमें दुनिया की सारी संवेदनाएं / मेरा सबसे ऊँचा विश्वास / पवित्र रिश्ते की आस्था / सब कुछ लुट गया।"[93] 'महज बोतल भर दारू और एक मुर्गे' के लिए बेटी का सौदा करने वाला आततायी समाज किस हद तक जा सकता है यह सोचनीय है। दैहिक प्रताड़णा आदिवासी स्त्रियों के जीवन का हिस्सा बन चुकी है। 'सबसे डरावनी रात' का यह बिंब मानवता के अंधेरे कोने में बैठी उदास स्त्री के आँसू हैं जिन्हें अंत समय तक न्याय की आस रहती है। दुष्टता और धृष्टता के पुरुषवादी रवैये से पार पाने का एकमात्र उपाय उनके खिलाफ मोर्चा खोलना ही है। 'तुम कहाँ हो माया?' कविता विस्थापन के दर्द को बया करती ऐसी कविता है, जहाँ शहर या महानगर शोषक का पर्याय बनता है। छोटे-छोटे गांवों-कस्बों से निकली लड़कियों को ये महानगर ऐसे लील जाते हैं कि ताउम्र उनकी खबर नहीं मिलती। नौकरी-पेशा के लोभ में निकली या बुलाई गई स्त्रियां अचानक शहर में जाकर गुम हो जाती हैं। कवयित्री जानती है कि वह किसी-न-किसी षड्यंत्र का शिकार हो चुकी है, बावजूद उसको अपने गाँव वापस आने की गुहार लगाती है "कहाँ हो तुम माया? / कहीं हो भी सही सलामत या / दिल्ली निगल गई तुम्हें? / ...क्या सचमुच इतने लोगों से होकर गुजरी तुम / या वे सबके सब ही गुजरे / अनचाहे तुम्हारी ज़िंदगी से? / ... ... दिल्ली / नहीं है हम जैसे लोगों के लिए / क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता माया / कि वह ऐसा

श्मशान है जहाँ / जिंदा दफन होने के लिए भी लोग लाइन / में खड़े हैं? / ... ... झारखंड की धरती संताल / परगना की माटी / दुमका के पहाड़ / और काठीकुंड के उजड़ते / जंगल पुकार रहे हैं तुम्हें / तुम जहाँ भी हो, लौट आओ माया! / लौट आओ माया!"[94] इस कविता में 'दिल्ली' शहर एक बिंब है जहाँ की बेतहाशा भीड़, अपराध, वाचालता-शोरगुल के बीच इंसानियत की आवाज़ कभी नहीं सुनी जाती है। शहर में भय का वातावरण एक अलग ही असुरक्षा-बोध को जन्म देता है। विकास की राजनीति के छद्म खेल में आदिवासियों का विस्थापन और हाशियाकरण उनके इन आर्तभावों में ही गुम्फित है। कवयित्री का देशज बोध आज भी अपने विरासत को सँजोये हुए है। यह देशज बोध ही उन्हें सत्ता की कूटनीति से लड़ने की ताकत देता है। कवयित्री के स्वप्न में 'घर' की तलाश बार-बार आता है। स्त्री के लिए घर उस स्वप्न जैसा है जो शायद कभी पूरा नहीं होता है ; बावजूद इसके वह 'घर की तलाश में' जुटी रहती है। यह घर पितृसत्ता के मानकों पर निर्मित घर नहीं है बल्कि वह एक ऐसी जगह है जहाँ स्त्री अपने नितांत निजी क्षणों में स्वयं को पा सके।

'स्त्रियाँ लिखेंगी अपना इतिहास' और 'तुम्हारा एहसान लेने के लिए पहले सोचना पड़ेगा हमें' सरीखी कविताओं में प्रयुक्त रूपक कवयित्री की साहसिकता और आजाद खयाली को एक नया आयाम देता है। इतिहास में हुए छल-कपट और जगह न देने की लाचारी पुरुषवादी आग्रह को दर्शाती है। कवयित्री अब स्वयं ही स्त्रियों के इतिहास को लिखने और न्याय देने का उद्घोष कर रही है। यह इतिहास भी आंसुओं से नहीं बल्कि खून से लिखा जाएगा ; भूगोल की सारी सीमाओं से परे होकर। स्त्रियों की ऐतिहासिकता को दर्ज़ करते हुए कि इतिहास हो या वर्तमान उनकी उपस्थिति के बगैर न कुछ बना था और न बन पाएगा। सामाजिक संघर्ष और स्त्री-प्रश्नों को उकेरती यह कविता स्त्रीवादी स्वर में अपनी बात कहती है "स्त्रियों को इतिहास में जगह नहीं मिली / इसलिए हम स्त्रियाँ लिखेंगी अपना इतिहास / ... ... हम खून से लिखेंगे अपना इतिहास / आँसू से नहीं / ... ... हम भूगोल की सारी सीमाएं लाँघकर / पहुँच जाएँगे

इतिहास के उस गलियारे में / और दर्ज करेंगे अपना सशक्त हस्ताक्षर।"[95] पूरी कविता जिस शैली में रचित है, वह इतिहास और वर्तमान के बीच एक अंतःसूत्र को निर्मित करती है। निर्मला पुतुल का यह इतिहासबोध ही उनकी आदिवासियत के स्वरूप को स्थापित करता है। पुंसवादी इतिहास लेखकों को इस कविता की एक-एक पंक्ति उन्हें एक चुनौती देती है ; उनके एकांगी दृष्टिकोण का पर्दाफाश करती है। अपने सांस्कृतिक वजूद को स्त्री-दृष्टि से देखना तथा आदिवासी जन-समाज की पीड़ा को, व्यवस्था से बेदखली को एक रचनात्मक दिशा देना ही निर्मला पुतुल की कविताओं का विधेय है। विकास शब्द ही उनके सांस्कृतिक ज्ञान और विरासत को एक पल में ध्वस्त करता है। विकास की अनुगूंजें आदिवासी समाज की संस्कृति, संसाधन आदि पर कब्जा करने और उन्हीं की जमीन से विस्थापित करने की हैं।

'तुम्हारा एहसान लेने से पहले सोचना पड़ेगा हमें' कविता का रूपक इन्हीं दारुण स्थितियों का बयान है। विस्थापन का दंश बड़ा दंश है, अपनी जड़ों से दूसरों के द्वारा निष्काषित होना, कितना कष्टप्रद हो सकता है यह आदिवासी समाज का एक-एक सदस्य भुगत रहा है। विकास के नाम पर शोषण की यह रीत राष्ट्रीय राजनीति और राजनेताओं की स्वार्थलिप्सा को दर्शाती है। जंगलों-बस्तियों को उजाड़कर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं बनाना या 'ऑफिसर्स कॉलोनियों' को बनाना सत्ता-व्यवस्था के दोहरे चरित्र को दर्शाता है "अगर हमारे विकास का मतलब / हमारी बस्तियों को उजाड़कर कल-कारखाने बनाना है / तालाबों को भोथकर राजमार्ग / जंगलों का सफाया कर ऑफिसर्स कॉलोनियों बसानी हैं / और पुनर्वास के नाम पर हमें / हमारे ही शहर की सीमा से बाहर हाशिए पर धकेलना है / तो तुम्हारे तथाकथित विकास की मुख्यधारा में / शामिल होने के लिए / सौ बार सोचना पड़ेगा हमें।"[96] पुनर्वास के नाम पर विस्थापन का दर्द देना और उनके जल-जंगल-जमीन और संसाधनों का सौदा करना, व्यवस्था के छल-कपट भाव को दिखाता है। कवयित्री अपने समाज का विकास आदिवासियत के मूल्यों पर ही करना चाहती है न कि सत्ता-व्यवस्था की विध्वंसात्मक विकास की नीतियों पर।

आदिवासी संस्कृति का शब्द-भंडार कविता को एक अलग आभा देता है। यहाँ शब्द नगाड़े, मांदल और बांसुरी की तान की तरह ध्वनित होते हैं। कवयित्री चाहती भी है उसके शब्द नगाड़े की तरह बजते रहे और कविता की जमीन से क्रान्ति की ज्वाला फूटे। निर्मला पुतुल की कविता का यह क्रान्ति भाव अपनी ऐतिहासिक चेतना के लिए याद रखा जाएगा। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समकालीन स्त्री-कविता में बिंब, रूपक और मिथकों का नवीन प्रयोग नवीन दृष्टि से किया गया है। सभी स्त्री-कवियों ने अपनी लोक चेतना, लोक-विश्वास और स्त्रीत्व की परिधि को विस्तार देते हुए देहरी के बाहर और भीतर के अनुभवों को ऐसी भाषा दी है जिसे समझने के लिए शब्दकोश से अधिक भावकोश की आवश्यकता है। स्त्री-कविता में लोक कथाएं, लोकगीतों की शैलियाँ, इतिहास और वर्तमान की झाकियाँ, स्त्री-देह संबंधी पूर्वग्रहों और पितृसत्तात्मक सेंसरशिप आदि को स्त्री-कवियों ने अपने दैहिक-मानसिक सांसारिक अनुभवों के ताप से कीलित किया है। स्त्री-भाषा की पुरमजाक और आत्मीय शैली ने उनके बिंबों-रूपकों और मिथकों को पुनर्संस्कारित किया। अनामिका की कविता में बौद्धिक और ग्रामीण दोनों ही जगत की संवेदनाओं को अलग-अलग स्तरों पर कविता के रूपक में निर्मित किया है। लोक संवेदना और शहर की आपाधापी के बीच स्त्री की निजता व निजेतर भाव को उन्होंने एक लीलाभूमि प्रदान किया है। गगन गिल की कविताओं का स्वर भी एकांत के आख्यान को रचता है। उनकी कविता मूक को स्त्री-भाषा की थपकन से जगाती है। स्त्री-संसार हो या विश्व संसार सभी की पीड़ा को कवयित्री शब्द-शब्द में भरना चाहती है। दिल में कलम डुबो कर सच लिखने की आरजू उनकी कविता को रूपकों-बिंबों का भरा-पूरा संसार बनाती है। कात्यायनी की कविता भी बिंबों का ही संसार है। शैली के स्तर पर कात्यायनी ने कविता के फॉर्म (form) को पूरी तरह से तोड़ा-मरोड़ा है। अपने समय के ज्वलंत मुद्दों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति उनकी प्रत्येक कविता के फॉर्म को परिवर्तित करती रहती है। लंबी, छोटी या मझोले आकार की दृष्टांतपरक कविताओं की शैली उनकी नितांत निजी शैली है। स्त्री-कविता की परंपरा

में स्त्रीवादी स्वर की कवयित्री सविता सिंह बिंब, रूपक और प्रतीक आदि के स्तर पर नए अर्थ-बोध की खोज करती प्रतीत होती हैं। स्त्री के मनोविज्ञान को स्त्रीवादी दृष्टि से कवयित्री ने खंगाला है। स्त्री-जीवन के विविध रंगों को उन्होंने नवीन बिंबों, रूपकों में अभिव्यक्त किया है। शुभा की कविता के बिंब सामाजिक हिंसा और स्त्री के यौन उत्पीड़न की पुंसवादी नीतियों से संपृक्त हैं। पुरुषवादी हिंसक वृत्ति को उनके काव्य-बिंब व प्रतीक आईना दिखाते हैं। स्त्री-कविता में बिल्कुल आमफ़हम भाषा-भाव-बिंब की प्रयोक्ता नीलेश रघुवंशी व रंजना जायसवाल की कविताएं गली, कस्बों, नुक्कड़ की आम जनता से लेकर सभा-सोसाइटी की भीतरी सच्चाईयों को उन्हीं की बोलीबानी में पेश करती है और स्त्री-अनुभव के ऐसे-ऐसे ब्यौरे सामने लाती हैं जिन तक पुरुष-मस्तिष्क अभी तक पहुंचा नहीं है। नीलेश की कविता की संवादात्मक शैली और रंजना जायसवाल की बालसुलभ वृत्ति काव्य-बिंब व रूपक को नए-नए अर्थों में व्यक्त करती है। कवयित्री अनीता वर्मा के आत्मिक बिंब स्त्री-कविता को एक अलग सौंदर्यशास्त्र की जमीन देते हैं। स्त्री की अंतर्निहित शक्तियों के प्रस्फुटन हेतु आवश्यक है कि वह अपने आत्मगत भावों को निर्द्वंद्व भाव से व्यक्त करें। दलित और आदिवासी स्त्री-कविता में असमानता के दंश और स्थानीय संस्कृति के बिंब-रूपक व मिथक अपनी सादगी में भाषा को सहज-सरल और बोधगम्य बनाता है। रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे आदि दलित स्त्री-कवियों की शैली आत्मकथात्मक रूप में व्यक्त होती है, वहीं आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल, वंदना टेटे, जसिन्ता केरकेट्टा आदि ने आदिवासी जगत के एक-एक रूप को शब्द-शब्द में रंजित किया है। पूरी स्त्री-कविता की परंपरा में आदिवासी कविता में बिंब एवं रूपकों का प्रयोग सबसे अधिक मौलिक और अत्याधुनिक है। देशज शब्द-बिंबों, घरेलू बिंबों ने स्त्री-कविता की बिंबधर्मिता को एक नए पाठ की ओर ले गया।

संदर्भ :

[1] अनामिका (पहला संस्करण : 2012). *स्वाधीनता का स्त्री-पक्ष*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 30

[2] अनामिका (पहला संस्करण : 2015). *टोकरी में दिगंत थेरी गाथा : 2014*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 28

[3] वही, पृ. 29

[4] सुजाता (पहला संस्करण : 2021). *आलोचना का स्त्री पक्ष*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 254-255

[5] गिल, गगन (प्रथम संस्करण : 2019). *देह की मुँडेर पर*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 33

[6] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2017). *थपक थपक दिल थपक थपक*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 43

[7] गिल, गगन (प्रथम संस्करण : 2019). *देह की मुँडेर पर*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 19

[8] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2017). *थपक थपक दिल थपक थपक*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 14

[9] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2017). *थपक थपक दिल थपक थपक*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 33

[10] वही, पृ. 68

[11] वही, पृ. 9

[12] अनामिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2019). *बीसवीं सदी का हिंदी महिला लेखन : खंड-2,* नयी दिल्ली : साहित्य अकादमी, पृ. 33

[13] कात्यायनी (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2012). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 9

[14] कात्यायनी (पुनर्मुद्रण : सितंबर, 2019). *सात भाइयों के बीच चम्पा*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 17

[15] कात्यायनी (पुनर्मुद्रण : सितंबर, 2019). *सात भाइयों के बीच चम्पा*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 55

[16] कात्यायनी (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2012). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 10

[17] कात्यायनी (पुनर्मुद्रण : सितंबर, 2019). *जादू नहीं कविता,* लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 36

[18] शुभा – कविता कोश (http://kavitakosh.org/kk/)

[19] शुभा – कविता कोश (http://kavitakosh.org/kk/)

[20] शुभा – कविता कोश (http://kavitakosh.org/kk/)

[21] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2016). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 8

[22] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2016). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 99

[23] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम संस्करण : 2017). *खिड़की खुलने के बाद*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 18

[24] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 11

[25] वही, फ्लैप से उद्धृत कथन

[26] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 34

[27] जायसवाल, रंजना (संस्करण : 2009). *ज़िंदगी के कागज पर*, नयी दिल्ली : शिल्पायन, पृ. 70

[28] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : जून, 2018). *स्त्री है प्रकृति*, जयपुर : बोधि प्रकाशन, पृ. 28

[29] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : 2002). *मछलियाँ देखती हैं सपने*, वाराणसी : लोकायत प्रकाशन, पृ. 9

[30] वही, पृ. 11

[31] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : 2002). *मछलियाँ देखती हैं सपने*, वाराणसी : लोकायत प्रकाशन, पृ. 12

[32] वही, पृ. 13

[33] वही, पृ. 15

[34] वही,

[35] सिंह, सविता (दूसरा संस्करण : 2019). *नींद थी और रात थी*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 83

[36] सिंह, सविता (पहला संस्करण : 2013). *स्वप्न समय,* नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 22

[37] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 140

[38] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). हवा सी बेचैन युवतियाँ, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 34

[39] वही, पृ. 36

[40] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2014). *मेरे काव्य संग्रह स्वाति बूंद और खारे मोती हमारे हिस्से का सूरज*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 33

[41] वही, पृ. 67

[42] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005*). नगाड़े की तरह बजते शब्द*, भारतीय ज्ञानपीठ : नई दिल्ली, पृ. 94

[43] सिंह, नामवर, त्रिपाठी, आशीष (संपा.) (पहला संस्करण : 2016). *रामचन्द्र शुक्ल ग्रंथावली, खंड-5*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ-172

[44] नगेंद्र (डॉ.), (संस्करण : 1990). *काव्य-बिंब*, नयी दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृ-01

[45] अज्ञेय (संपा.) (द्वितीय संस्करण : 1961). *तीसरा सप्तक*, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ-195

[46] लेविस, सी.डी.(प्रथम संस्करण : 2008). *पेयोटिक इमेज*, कोलकाता : बुक्स वे, पृ-22

[47] रेनवेलेक एंड अस्टिन वारेन (संस्करण : 2012). *साहित्य-सिद्धान्त थिअरी ऑफ लिटरेचर*, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, पृ-244

[48] शंभुनाथ (संपा.) (पेपरबैक संस्करण : 2019). *हिंदी साहित्य ज्ञानकोश-06*, कोलकाता : भारतीय भाषा परिषद, पृ. 3228

[49] सिंह, बच्चन (प्रथम संस्करण : 2005). *आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 100

[50] शंभुनाथ (प्रथम संस्करण : 2019) (संपा.) *हिंदी सहिया ज्ञान कोश-5*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 2857

[51] वही, पृ. 2861

[52] द्विवेदी, मुकुन्द (चौथा संस्करण : 2013). *हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-7*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 85

[53] अनामिका (प्रथम संस्करण : 2019). *दूब-धान*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 74

[54] अनामिका (पहला संस्करण : 2019). *पानी को सब याद था*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 122

[55] वही, पृ. 89

[56] वही, पृ. 15

[57] अनामिका (पहला संस्करण : 2015). *टोकरी में दिगंत थेरी गाथा : 2014*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 139

[58] अनामिका (प्रथम संस्करण : 2019). *एक कस्बाई लड़की डायरी*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 25

[59]अनामिका (तीसरा संस्करण : 2009).*खुरदुरी हथेलियाँ*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 31

[60] अनामिका (प्रथम संस्करण : 2019). *एक कस्बाई लड़की डायरी*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, फ्लैप से उद्धृत

[61] अनामिका (पहला संस्करण : 2019). *पानी को सब याद था*, नयी दिल्ली : राजकमल पापरबैक्स, पृ. 9

[62] अनामिका (प्रथम संस्करण : 2019). *कविता में औरत*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 39

[63] अनामिका (प्रथम संस्करण : 2019). *अनुष्टुप*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 116

[64] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2018). *अँधेरे में बुद्ध*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 102

[65] गिल, गगन (प्रथम संस्करण : 2018). *मैं जब तक आयी बाहर*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 15

[66] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2017). *यह आकांक्षा समय नहीं,* नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 94

[67] गिल, गगन (प्रथम संस्करण : 2018). *मैं जब तक आयी बाहर*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 147

[68] वही, पृ. 119

[69] गिल, गगन (प्रथम संस्करण : 2018). *मैं जब तक आयी बाहर*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 123

[70] कात्यायनी (पुनर्मुद्रण : सितंबर, 2019). *सात भाइयों के बीच चम्पा,* लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 85

[71] कात्यायनी (पुनर्मुद्रण : सितंबर, 2019). *जादू नहीं कविता,* लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 168

[72] कात्यायनी (दूसरा संस्करण : जनवरी, 2008). *इस पौरुषपूर्ण समय में*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ.114

[73] कात्यायनी (पुनर्मुद्रण : सितंबर, 2019). *जादू नहीं कविता*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 148

[74] कात्यायनी (दूसरा संस्करण : जनवरी, 2008). *इस पौरुषपूर्ण समय में*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 51

[75] कात्यायनी (पुनर्मुद्रण : सितंबर, 2019). *सात भाइयों के बीच चम्पा*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 45

[76] कात्यायनी (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2012). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, फ्लैप से उद्धृत

[77] अनामिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *बीसवीं सदी का हिंदी महिला लेखन : खंड-2,* नयी दिल्ली : साहित्य अकादमी, पृ. 195

[78] अनामिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2019). *बीसवीं सदी का हिंदी महिला लेखन : खंड-2,* नयी दिल्ली : साहित्य अकादमी, पृ. 189

[79] सिंह, सविता (दूसरी आवृत्ति : 2013). *अपने जैसा जीवन,* नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 33

[80] सिंह, सविता (दूसरा संस्करण : 2019). *नींद थी और रात थी*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 105

[81] सिंह, सविता (दूसरा संस्करण : 2019). *नींद थी और रात थी*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 127

[82] वही, पृ. 39

[83] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : 2002). *मछलियाँ देखती हैं सपने*, वाराणसी : लोकायत प्रकाशन, पृ. 26

[84] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : 2007). *दुख पतंग*, इलाहाबाद : अनामिका प्रकाशन, पृ. 65

[85] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : 2002). *मछलियाँ देखती हैं सपने*, वाराणसी : लोकायत प्रकाशन, पृ. 25

[86] वही, पृ. 19

[87] जायसवाल, रंजना (संस्करण : 2009). *ज़िंदगी के कागज पर*, नयी दिल्ली : शिल्पायन, पृ. 62

[88] नीलेश, रघुवंशी (प्रथम संस्करण : 2008). *अंतिम पंक्ति में*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 41

[89] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम संस्करण : 2004). *पानी का स्वाद*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 60

[90] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 31

[91] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 29

[92] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 13

[93] पुतुल, निर्मला (प्रथम संस्करण : 2014). *बेघर सपने*, पंचकूला (हरियाणा) : आधार प्रकाशन, पृ. 14

[94] पुतुल, निर्मला (संस्करण : 2004). *अपने घर की तलाश में*. दिल्ली : रमणिका फाउंडेशन, पृ. 31-33

[95] पुतुल, निर्मला (प्रथम संस्करण : 2014). *बेघर सपने*, पंचकूला (हरियाणा) : आधार प्रकाशन, पृ. 74

[96] पुतुल, निर्मला (प्रथम संस्करण : 2014). *बेघर सपने*, पंचकूला (हरियाणा) : आधार प्रकाशन, पृ. 40